धर्म दर्शन विज्ञान और कला में रसदृष्टिका पक्ष

(रसो वै सः)

:: भूमिका ::

स्थूलके भीतर रहनेवाले सूक्ष्मको जान पानेको मानवकी बुद्धिमें चलता मन्थन दर्शन या तत्त्वज्ञान **(Philosophy)** होता है.

सूक्ष्मको जान लेनेके बाद बुद्धिको जंचते सांचेमें स्थूलको ढालनेका मन्थन विज्ञान (Science) होता है.

स्थूलके भीतर रहनेवाले सूक्ष्मकी अनुभूति पा लेनेको मानवके हृदयकी चहल-पहल धर्म **(Religion)** होता है

सूक्ष्मकी अनुभूतिके अव्यक्त आनन्दको अभिव्यक्त करनेको हृदयको लुभानेवाले सांचेमें स्थूलको गढ़नेकी चहल-पहल कला **(Art)** होती है.

दर्शन सूक्ष्मको *जाननेवाला* द्रष्टा प्रकट करना चाहता है. धर्म सूक्ष्मका आनन्द ले पानेवाला *द्रष्टा* प्रकट करना चाहता है. विज्ञान *बुद्धिको* जंचते सांचेमें स्थूलको गढ़नेवाला *स्रष्टा* प्रकट करना चाहता है. काव्य आदि कला हृदयको जंचते सांचेमें स्थूलको गढ़नेवाला स्रष्टा प्रकट करना चाहती हैं.

सूक्ष्म और स्थूल, जानना और आनन्दित होना, मन्थन और चहल-पहल जैसे विरोधाभासोंकी बाबतमें बृहदारण्यकोपनिषद्में एक महान् वैचारिक सूत्र उपलब्ध होता है. उपनिषद् कहता है : **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च, मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च त्यं च''** (बृह.उप.२।३।१) अर्थात् ब्रह्म(परमात्मा)के दो रूप होते हैं - मूर्त-अमूर्त, मर्त्य-अमृत, स्थायी-संचारी और प्रत्यक्ष-परोक्ष.

सूक्ष्म-स्थूल, मूर्त-अमूर्त, जड़-चेतन, नश्वर-अनश्वर, सुख-दुःख, द्वैत-अद्वैत आदिके आपसी विरोधाभासोंकी बात सुन कर जब महान् तत्त्व-चिन्तकोंकी भी मति चकरा जाती है, उन्हें ऐसे सभी विरोधाभास मिथ्या-यिक-भयंकर लगने लगते हैं, तभी उपनिषद् कितनी सहजता संजो कर ऐसे परस्पर विरोधी लगनेवाले दोनों रूपोंको एक ही ब्रह्मके विभिन्न दो रूपोंकी तरह बिरदा देते हैं **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे !''**

एक प्रश्न और उपनिषद् उपस्थापित करता है : मूर्त-अमूर्त जैसे विविध विरोधाभासी रूप जो ब्रह्मके केवल दो रूप ही हों तो स्वयं ब्रह्मको क्या या कैसा मानना चाहिये ?

इस गूढ़ प्रश्नका समाधान प्रकट करते समय उपनिषद् मानवके हृदय या बुद्धि मेंसे किसी एकको फुसलाना या फेंक देना नहीं चाहते. अतएव अद्‌भुत साहजिकताके साथ वह कह पाते हैं : **''अथात आदेशो 'न' इति-'न' इति' - 'नहि एतस्माद्' इति 'न' इति अन्यत् परम् अस्ति !''** (तत्रैव) केवल मूर्तको ब्रह्म मान लेना उपनिषदोंको उचित नहीं लगता, इसी तरह केवल अमूर्तको ही ब्रह्म मानना भी उसे रुचता नहीं है, अतएव तो वह ''न'इति-'न'इति !'' कहना चाहते हैं. इसी तरह केवल मर्त्यको अथवा केवल अमृतको ही ब्रह्म नहीं मान लेना चाहिये. केवल कूटस्थ-अविकारीको अथवा केवल आगमापायी-विकारीको ही सत्य मान लेना भी उसे अनभिप्रेत है. केवल सत् (व्यक्त-प्रत्यक्ष) को अथवा केवल त्यत् (अव्यक्त-परोक्ष) को ही कभी सत्य उपनिषद्‌के अनुसार माना नहीं जा सकता है.

तब प्रश्न उठता है कि किसे सत्य माना जाये ? उपनिषद् समाधान प्रकट करते हैं : **''अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम् इति''** (तत्रैव). जब सत् (व्यक्त) और त्यत् (अव्यक्त) दोनों मिल कर एककाय जहां बन पाते हों, वहीं ''सत्+त्यत्=सत्य'' प्रकट हो पाता है. सत्से त्यत्को अथवा त्यत्से सत्को पृथक् कर निहारनेपर कभी भी सत्य उपलब्ध नहीं हो पाता !

इसी तरह मूर्त-अमूर्त, मर्त्य-अमृत और स्थायी-संचारी के युगलोंको भी एक-दूजेसे जुदा करके कुछ समझना चाहेंगे तो उपनिषद् हमें आदेश दे देगा : **''अथात आदेशो 'न'इति-'न'इति !''**

ऐसे विविध विरोधाभासोंकी समग्रता या समष्टि ही ब्रह्म हो पाती है. समग्र तत्त्व सत्य होता है परन्तु उसके विभिन्न अंगोपांग या पक्ष अर्धसत्य होते हैं, असत्य नहीं.

अमूर्तको मूर्तमें, अमृतको मर्त्यमें, गतिको स्थितिमें अथवा अव्यक्तको व्यक्तमें जान लेनेको किये जाते वैचारिक मन्थन द्वारा, जिस समग्रता या जिस सत्यकी खोज दर्शन और विज्ञान करना चाहते हैं, उसी समग्रता या सत्य को धर्म और काव्य आदि कला द्वारा भी खोजा जाता है. सत्यको खोजनेकी या समग्रताको प्राप्त करनेकी दिशा धर्म और काव्य आदि कलाओंकी भिन्न-भिन्न हो सकती हैं. मूर्तका अमूर्तमें, नश्वरका अनश्वरमें या मर्त्यका अमृतमें, स्थितिका गतिमें; और, व्यक्तका अव्यक्तमें हृदयकी चहल-पहल द्वारा आनन्द उठा कर धर्म और काव्य आदि कला समग्रताको प्राप्त करना चाहते हैं, सत्यको खोजना चाहते हैं.

कोई दार्शनिक हो या धार्मिक अथवा कोई वैज्ञानिक हो या कलाकार, जो समग्रताके बोध या स्वीकृति के हेतु सक्षम नहीं हो पाता, उसे न तो सत्य उपलब्ध होता और न वह उसे प्रकट ही कर पाता है. जिसके समक्ष सत्य प्रकट नहीं हो पाता, वह ब्रह्मको पहचान नहीं पाता. जो ब्रह्मको पहचान नहीं पाता, ऐसे दार्शनिकके दर्शनमें, धार्मिकके धर्माचरणमें, वैज्ञानिकके विज्ञानमें, या कलाकारकी कलामें रस प्रकट नहीं हो पाता, क्योंकि रस स्वयं ब्रह्म है **''रसो वै सः''** (तैत्ति.उप.२।७). जिसे रसानुभूति नहीं हो पायी वह आनन्दी नहीं बन पाता **''रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति''** (तैत्ति.उप.२।७).

यहां यह प्रश्न उठता है कि इस रसको प्रकट कैसे किया जाये ? रसनिष्पत्तिके उपाय या प्रकार क्या ? रसानुभूतिका अधिकारी कौन ?

[१]वेदोके संहिता ब्राह्मण आरण्यक ग्रन्थोंमें, इसी तरह, स्मृति धर्मसूत्र पुराण तन्त्र आगम आदि ग्रन्थोंमें भी मिलते धर्मनिरूपणमें; या [२]उपनिषद् ब्रह्मसूत्र गीता भागवत आदि ग्रन्थोंमें मिलते तत्त्वचिन्तनमें; या [३]आयुर्वेद ज्योतिष भाषाविज्ञान योगशास्त्र वास्तुविज्ञान आदि विज्ञानकी विकसित शाखाओंमें; अथवा उसी तरह [४] रामायणसे प्रारम्भ कर मध्यकालीन प्रत्येक प्रान्तीय भाषाओंके साहित्य या संगीतकला नृत्यकला या मूर्तिकला आदिमें व्यक्त होनेवाली रसदृष्टिमें अपवादरूपेण

ही अपनी भारतवर्षीय आर्ष परम्परामें कहीं-कभी नैल्यावरोध **(glaucoma)** की बाधा प्रकट हुई है!

परन्तु आधुनिक युगमें पाश्चात्य संस्कृति द्वारा उच्छ्वसित अंगारक **(carbon)** वायु अब अपने धार्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और ललितकलाजगत्के वातावरणमें भी बढ़ रहा है. अतः प्रदूषण **(Polution)** भी बढ़ रहा है. परिणामरूपेण अपनी भारतीय संस्कृतिकी प्राणोपमा रसदृष्टिमें प्राणवायुका अनुपात भी घटता हुवा सा दिखलायी देने लगा है. धार्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और ललितकलाके क्षेत्रोंमें उस वातावरणको पुनः शुद्ध और स्वच्छ बनाना हो तो, उस रसदृष्टिको पुनः भलीभांति पहचानना और प्रतिष्ठापित करना आवश्यक लगता है.

:: धर्ममें अपनी रसदृष्टि ::

किसी भी वस्तुका भलीभांति ज्ञान पाना हो तो, उसकी परिभाषा और उसके प्रमाण का ज्ञान होना प्राथमिक आवश्यकता है.

अपने यहां धर्मके स्वरूप परिभाषा और प्रमाण यों दिये गये : **''धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तानि अविरोधतः''** (भाग.पुरा.३।७।३२) **''यतो अभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः. तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्''** (काणा.सू.१।१।१) अर्थात् धर्म अर्थ काम और मोक्ष के स्वरूप परस्पर अविरुद्ध होने चाहिंये. अतः जिसके कारण अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों सिद्ध होते हों उसे धर्म समझना चाहिये. इस अभ्युदय और निःश्रेयस् के उपायोंके उपदेशके कारण ही वेद आदि आम्नायोंके वचनोंका प्रामाण्य माना गया है.

अभ्युदय आधिदैहिक होता है जबकि निःश्रेयस आध्यात्मिक होता है. जीवनको खिलानेकी कलासे अभ्युदय सिद्ध होता है. आत्माको खिलानेकी कलासे निःश्रेयस सिद्ध होता है. शारीरिक पारिवारिक एवं सामाजिक जीवनमें उन्नति तथा समरसता जब प्रकटती हैं तब अभ्युदयकी सिद्धि मिली मानी जा सकती है. जीवनावधिमें परिच्छिन्न न होनेवाले स्पृहणीय आदर्शोंका भलीभांति निर्वाह निःश्रेयस्की सिद्धि है.

अतएव मृत्युके अधिदेव यमराजको, अपने यहां, प्राण या जीवन के अधिदेव सूर्यके पुत्ररूपेण मान्य किया गया है. अपने भीतर रहनेवाली काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य की दुर्वृत्तिओंपर मृत्युपर्यन्त जिसे धर्मवृत्ति द्वारा क़ाबू पानेमें सफलता नहीं मिलती, उसे मृत्युके समय मृत्युके अधिदेवके दर्शन यमराज के रूपमें होते हैं. काम क्रोध लोभ आदिकी अपरितुष्ट कामनायें जब जीवनको लंबाना चाहती हों, तब अकस्मात् ही उनका नियमन यमराज कर देते हैं. परन्तु जिसने धर्ममय जीवन व्यतीत किया हो, उसे तो मृत्युके अधिदेव यमराज नहीं पर धर्मराज ही लगेंगे. अतएव यमराजको 'धर्मराज' भी कहा जाता है.

कोई जीवनमें अभ्युदय तो साध सकता हो परन्तु उस अभ्युदयकी सिद्धिके मूल्यरूपेण यदि उसे आत्मिक आदर्शोंका हनन करना पड़ता हो तो उसे 'धर्म' नहीं कहा जा सकता. इसी तरह आत्माके निःश्रेयस्के हेतु जिसे अभ्युदयकी सर्वथा उपेक्षा ही करनी पड़ती हो तो उसे भी 'धर्म' नहीं कहा जा सकता.

जीवनको जीनेकी और अन्तमें मरनेकी भी जो कला हमें हमारे वेदादि शास्त्रोंने सिखायी हैं, वे शास्त्र धर्मके सच्चे स्वरूपको समझनेके साधन या प्रमाण हैं : **''वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मः तद्विपर्ययः''** (भाग.पुरा.६।१।४०) यह इस बारेमें दी गयी व्यवस्था है. जो धर्मका स्वरूप समझना हो तो वह श्रुतिओंके आधारपर समझना चाहिये अथवा उनके अर्थोंका ऋषिओंने जो निरूपण किया उन स्मृतिओंके आधारपर समझना चाहिये.

धर्मके स्वरूपको भलीभांति समझ लेनेके बाद, उसे जीवनमें उतारनेकी चातुरी, प्राचीन या वर्तमान महापुरुष कि जिन्होंने अपने जीवनके निर्माणमें शास्त्रीय ज्ञान और शील दोनों प्रकट किये हों उनके आचरणमेंसे और स्वयंकी अन्तरात्माकी प्रेरणाके आधारपर प्राप्त करनी चाहिये. **''वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्, आचारश्चैव साधूनाम् आत्मनः तुष्टिरेव च''** (मनुस्मृ.२।६).

हमने कभी भी मनुष्यजीवनको एकांगी दृष्टिकोणसे निहारा न था. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारोंको 'पुरुषार्थ' के रूपमें मान्य करनेकी अपनी संस्कृतिके वश इस तथ्यको समझा जा सकता है. ऋषि-मुनिओंने वनमें रह कर ही, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र की तरह, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र का भी चिन्तन और निरूपण किया था! ऋषिओंने ''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे''का सिद्धान्त भलीभांति जाना-माना था, उसका तत्त्वानुध्यान और रसावगाहन भी किया था. ऋषिओंके लिये धर्म केवल एक थोथी पूजाप्रणाली नहीं थी. अतएव गीतामें **''धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि''** (भग.गीता.७।११) ऐसा कहते हुवे भगवान्को किसी तरहका संकोच नहीं अनुभूत होता है.

आजकल 'कर्मकाण्ड' या 'पूजाप्रणाली' जैसे कई धार्मिक शब्दोंका हम निन्दावाचक शब्दोंके रूपमें प्रयोग करने लगे हैं. अतः अपने धार्मिक कर्मकाण्ड या पूजाप्रणाली में निहित हमारी रसदृष्टिको समझ पानेकी मानसिकता हमने खो दी है. अतएव हममें से कई यों भी कहते पाये जाते हैं कि पर्वत नदी वृक्ष पशु पक्षी पत्थर या धातु की मूर्तिमें देवबुद्धि रख कर पूजाका कर्मकाण्ड तो अपनी अविकसित असभ्य जंगली अवस्थामें पनपी अन्धश्रद्धाके उदाहरण हैं!

मालिककी निगाहमें खुदको योग्य ठहरानेको, जैसे बन्दी गुलाम अपने-आपको फनाह कर देते थे, वैसे ही हम भी हमारे धर्ममें रही अपनी पवित्र श्रद्धाको अन्धश्रद्धा मान कर हम अपनी सांस्कृतिक अस्मिताको नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहते हैं. क्योंकि पाश्चात्य गोरे साहब हमें 'पेगान' की गाली देते थे!

सूक्ष्मकी स्थूलमें आनन्दानुभूति, अमूर्तकी मूर्तमें आनन्दानुभूति, अमृतकी मर्त्यमें आनन्दानुभूति, परोक्षकी प्रत्यक्षमें आनन्दानुभूति की अपनी सुन्दर सुघड़ और अल्हड़ श्रद्धा आज अतएव बुढ़िया रही है.

जगत्के निर्माण पालन और संहार के हेतु एक ही परमात्माके तीन रूप हमें मान्य थे. ब्रह्मा विष्णु और रुद्र की त्रिमूर्तिके आधिदैविक द्वैतमें एक अमूर्त ब्राह्मिक अद्वैत भी हमें मान्य तो था ही. शैव और वैष्णव सम्प्रदायोमें कई बार

अन्तःकलह भी हुवे होंगे. पर उन कलहोंके कारण दोमेंसे किसी भी एक सम्प्रदायने अपने इष्टदेवके रूपसे भिन्न दूसरे देवोंके रूपको कभी शैतान या माया के रूप तो नहीं माने थे. शैवोंके लिये विष्णु जैसे परमात्माका अवर (गौण) रूप था, वैसे ही वैष्णवोंके लिये शिव भी परमात्माका ही एक अवर गौण रूप माना गया है. दोमेंसे मुख्य कौन इस बारेमें कभी भक्तिके अतिरेकवश विवाद हुवे होंगे. पर शैवोंने या वैष्णवोंने शिवकी या विष्णुकी मूर्तिओंको कभी पत्थरकी मान कर खण्डित तो नहीं किया. स्मार्त जैसे पञ्चदेवोपासक होते थे वैसे ऐकान्तिक भक्तिसम्प्रदायोंके अन्तर्गत शैव शाक्त या वैष्णव आदि एकदूसरेके मन्दिरोंमें पूजा-दर्शन करने न भी जाते हों, तो भी दूसरे सम्प्रदायोंके मन्दिरोंको तोड़ देनेकी बात हमारे सांस्कृतिक इतिहासमें मिलती नहीं है! महर्षि यास्क कहते हैं **''महाभाग्याद् देवतायाः एकः आत्मा बहुधा स्तूयते. एकस्य आत्मनो अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति... प्रकृतिसार्वनाम्क्यात् च''** (निघ.निरु.७।१।४) अतः देवताओंके अनेकविध नाम-रूप-अधिकारोंके द्वैतमें एक सर्वनामा सर्वरूप सर्वकर्मा परमात्माके अद्वैतको, तत्तत् साम्प्रदायिक भेदोमें एकमेवाद्वितीय परमात्माके अभेदको, मान्य रखनेके कारण ही यह सम्भव हुवा होगा! ऐसी थी अपने धर्ममें हमारी रसदृष्टि! जो धर्मों और तदाराध्य देवताओंके ऐकान्तिक द्वैत या ऐकान्तिक अद्वैतको **''''न'इति-'न'इति!''** निषेधद्वारा उनके प्रकट(=सत्) नाम-रूप-कर्मों और अप्रकट(=त्यत्) ब्राह्मिक तत्त्व के महायोगमें सत्यको खोजना चाहती थी.

भूतलके पर्वत नदी या वृक्ष आदिको पूजनेमें भी अपनी यही रसदृष्टि झलकती थी. परमात्माके पालक रूप विष्णुकी पत्नीके रूपमें हम पृथ्वीका आदर करते थे **''विष्णुपत्नीं महीं देवीं माधवीं माधवप्रियां लक्ष्मीप्रियसखीं देवीम्''** (भूसूक्त) इस पृथ्वीपर जनमना या जीना तो ममतामयी माताकी गोदमें खेलने या आराम करने जैसी सहज-सुखद बात थी **''मे माता पृथिवी महीयम्''** (ऋक्संहि.२।३।२०). हमारी नहीं यह तो गोरे साहबोंकी धार्मिक मान्यता थी कि मानव स्वर्गसे अधःपतनके धरातलके रूपमें पृथ्वीपर फेंका गया है. हमने कभी इस भूतलको इस तरह धिक्कारा नहीं था.

भूतलके पर्वत हमें अपनी माता पृथ्वीके स्तन जैसे लगते थे **''मध्ये श्यामः स्तनइव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः''** (मेघदूत : १८) इन पर्वतोंमेंसे प्रकट होनेवाली नदिओंकी जलधारा हमारेलिये दुग्धोपमवारिवाहिनी स्तन्यधारा थी **''नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रम् अत्यद्भुतम्, न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः''** (यमुनाष्टक : ६) वृक्षवल्लिओंकी वनराजी, अपने बालकको स्तनपान कराते समय पुलकित होनेवाली ममतामयी माताकी रोमराजी हमें लगती थी.

कोई हृदयहीन नरपशु ही इसे 'अन्धश्रद्धा' कह सकता है, क्योंकि यह तो हमारी माताके लिये हमारे हृदयमें कृतज्ञतासभर हमारा निश्छल सहज स्नेह ही था.

भूमिपर अपना भव किसी शैतानके द्वारा हमें भरमा दिये जानेके कारण नहीं हुवा था, पर भगवान् विष्णु और भगवती पृथ्वी की परस्पर प्रणयक्रीड़ाकी एक मधुर परिणति है. अतएव भूमिके अंगप्रत्यंगोंमें हमें पूज्यभाव और सच कहें तो, उससे भी अधिक मातृभावात्मक स्नेह ही था.

यह तो अभारतीय जनोंकी धारणा थी कि आरम्भमें हम अपने परम पिताके साथ स्वर्गके पवित्र उद्यानमें रहते थे. बादमें शैतानने हमें भरमा कर परम पिता परमेश्वरके साथ रह पानेको अयोग्य अपवित्र पापी बना दिया. इसीलिये हमें धरातलपर धकेला गया. ऐसी धारणाके परिणामस्वरूप धरित्रीके अंगप्रत्यंगोपम पर्वत नदी वृक्षों आदिकी पूजा उन्हें जंगलीपना लगे यह तो सर्वथा स्वाभाविक है. पर हमारे गलेमें उनकी बात क्यों-कैसे उतर गई यह समझमें नहीं आता!

पृथ्वीके गर्भमें स्थित धातु या शिला के भीतर परमात्माका वीर्य या सामर्थ्य रहा हुवा है, अतएव तो जिस शिलामयी या धातुमयी मूर्तिमें निज इष्टदेवका आकार उभारा गया हो उसमें सच्चिदानन्द परमात्माके अस्तित्व चैतन्य और आनन्द अर्थात् अद्वैत हमें मान्य थे. अतः कृपालुता ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य जैसे दूसरे दिव्य भगवद्गुणोंकी भी परोक्ष विद्यमानता हमें मान्य थी. यदि परमात्मा स्वयं व्यापक हो और उसके ज्ञान बल ऐश्वर्य आनन्द और अद्वैत भी

व्यापक हों तो, क्या मूर्तिके अपवादको छोड़ कर ही वे ब्रह्माण्डमें व्यापक होते होंगे ?

अभारतीय जनोंने हमें गाली दी :""Idol-worshiper Black Indians!!'' अर्थात् मूर्तिपूजक काले हिन्दुस्तानी. अतः लज्जित हो कर हम हमारा काला रंग तो पौंछ नहीं पाये, पर हमारे खवशरश्री आदर्शों और खवेश्री मूर्तिओं में रही हमारी श्रद्धाको हम बुद्धिफलकपरसे पौंछ कर साफ करनेमें जुट गये !

परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इस पृथ्वीपर केवल हम ही नहीं प्रकटे, अपने यहां तो मत्स्य कच्छप हंस वाराह अश्व नृसिंह आदि अनेक प्राणिओंके रूपमें भी परमात्मा इस भूतलपर प्रादुर्भूत होता माना गया है. अनेक रूपोंमें परमात्माके अवतारकी यह बात हमारेलिये पक्की गेरेंटी रूप है कि इस भूतलपर केवल मनुष्याकार देहधारीमें ही नहीं परन्तु प्रत्येक जाति-आकृतिके देहधारिओंमें वह दिव्यता भरी हुयी है. फिरभी परमाणु **(Atom)** मेंसे ऊर्जा **(Energy)** प्राप्त करनेके विज्ञानमें हम इतने मशगूल बन गये हैं कि अब कण-कणमें कृष्ण होनेकी बात हमें अन्धश्रद्धा लगती है ! उधार ली गयी बुद्धिका वैभव तो ऐसा ही होगा न !

परमात्माके ज्ञान बल ऐश्वर्य आनन्द अनुग्रह और अद्वैत की दिव्यता सूक्ष्मरूपेण प्रत्येक स्थूलमें विद्यमान है. यह बात अपने शास्त्रोंके समीचीन अध्ययन करनेपर जानी जा सकती है, परमात्माके माहात्म्यज्ञानके खिल जानेपर यह बात समझी भी जा सकती है; और जीवात्मा तथा परमात्मा के बीच विद्यमान सहज स्नेहको जो असहज और उधार ली हुयी धारणाओंसे ढांप न दिया दिया जाये तो मूर्तिके स्थूल रूपमें सूक्ष्मरूपेण विद्यमान ऐसी इस दिव्यताकी अनुभूति भी प्राप्त हो सकती है.

परमात्मा परोक्ष रूप धारण कर, लजीली नवोढा नायिकाकी तरह, अपने प्रेमी जीवात्माके नयनोंसे ओझल हो कर बैठा हुवा है ! इस छिप जानेमें उसका

गूढ़ स्त्रीभाव बाहर छलक रहा है ऐसा ध्वनित करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य रासपञ्चाध्यायीमें गोपिकाओंके बीचमें छिप जानेवाले श्रीकृष्णको स्त्रीगूढभावात्मा मानते हैं. उस छिपे हुवे श्रीकृष्णको खोजनेवाली गोपिकाओंको गूढपुंभाववती मानते हैं. यह बात केवल मूर्तिमें ही केवल सीमित नहीं रखी गयी थी : **''[१]सूर्यो [२]अग्निः [३]ब्राह्मणो [४]गावो [५]वैष्णवः [६]खं [७]मरुद् [८]जलं [९]भूः [१०]आत्मा [११]सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे. [१]सूर्येतु विद्यया त्रय्या [२]हविषा अग्नौ यजेत मां [३]आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये [४]गोषु अङ्ग यवसादिना [५]वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या [६]हृदि खे ध्याननिष्ठया [७]वायौ मुख्यधिया [८]तोये द्रव्यैः तोयपुरस्कृतैः [९]स्थण्डिले मन्त्रहृदयैः [१०]भोगैः आत्मानम् आत्मनि [११]क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम्''** (भाग.पुरा.११।११।४२-४५) इन ग्यारह पूजापदोंको यहां अगणित पर अन्यत्र मान्य पर्वत वृक्ष नदी कलश चित्र आदिको भी पूजापद मान कर चलें तो वस्तुमात्रकी ब्रह्मात्मकताका बोध जगाना ही इस कर्तव्योपदेशमें तात्पर्यविषयीभूत उपदेश है.

वस्तुतस्तु केवल कहां या सर्वत्र ब्रह्मभाव रख कैसे परमात्माका पूजन करना इतने से कर्तव्यमें ही धर्मकी 'अथेतिश्री' समाहित मानी नहीं जा सकती. यद्यपि सम्प्रति वर्णाश्रम-व्यवस्था उच्छिन्नप्राय है अन्यथा स्वस्ववर्णके तथा स्वस्व-आश्रमके विशेष कर्तव्य और वर्णाश्रमेतर सामान्य मानवमात्रके भी दशविध **''धृतिः क्षमा दमो अस्तेयं शौचम् इन्द्रियनिग्रहः धीः विद्या सत्यम् अक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्''** (मनुस्मृ.६।९२) कर्तव्योंका निर्वाह भगवद्गीताके अनुसार **''स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तत् श्रुणु : यतः प्रवृत्तिः भूतानां येन सर्वम् इदं ततं स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं मानवः''** (भग.गीता.१८।४५-४६) धर्मतया ही समादृत हुवा है. इन सभी प्रकारके धर्मरूप कर्तव्योंके निर्वाहमें अर्थ-काम पुरुषार्थोंकी वैध व्यवस्था मान्य रखी गयी. साथ ही साथ मोक्षपुरुषार्थके हेतु शास्त्रविहित कर्म ज्ञान भक्ति रूप धर्मोंका धर्मत्वेन ही समादर है. यह खेदका विषय है कि आधुनिक धर्मोपदेशक या तो अर्चन-पूजनकी या फिर मोक्षोपायरूप कर्म ज्ञान या भक्ति रूप धर्मोंकी परिधिसे बाहर धर्मश्रवणार्थी जनसाधारणको निकलने नहीं देना चाहते ! दोष इसमें परन्तु धर्मदृष्टिका न हो कर अपनी मूल व्यवस्थामें श्रोता-वक्ता उभयत्र पनपे श्रद्धाह्रासका अधिक लगता है.

प्रकृत विषयके पुनः अनुसन्धानार्थ : जगत्के स्थूल रूपोंमें परमात्माकी अपरोक्ष अनुभूति न होनी या परमात्माका परोक्ष होना, वह तो लजीली नवोढाके जैसा परमात्माका गूढ़स्त्रीभाव है ! परन्तु जब आज हमें स्थूलके खण्डनकी ही धुन सवार हो गयी हो तो, तब स्थूल नाम-रूपोंमें छिपे हुवे परमात्माके साथ आंखमिचौनी खेलनेकी मस्ती कैसे मिल पायेगी ?

हमारा धर्म हमें अपनी ममतामयी माता धरतीको धिक्कारके, विधाताके ध्यान धरनेकी प्रेरणा नहीं देता है. जो इस धरातलपर भगवान अवतीर्ण होते हों तो, भक्तको मुक्ति नहीं प्रत्युत भगवान्की भूतलपर प्रकट होनेवाली लीलाओंके दर्शनकी प्रतीक्षा या लालसा में निरन्तर यहां जनमते रहना अधिक सुहाता है. गुजरातके भक्तकवि दयारामभाई कहते हैं :

''हे प्राणजीवन ! दीन हो कर याचना करता हूँ !
मुझे अपने प्रेमरसका पान कराओ !
जो मुक्तिमार्गी हो उसे आप ज्ञान प्रदान करें।
मुझे तो वह रुचता ही नहीं है।।
जो निर्धन हो उसे खानेमें राब सुहा सकती है।
जो खानेका शोखीन हो उसे सन्तोष कब होता है !।।
हम तो आपके निजी सेवक हैं।
हमारे भीतर लेशमात्र भी मुक्तिकी लालसा नहीं है।।
हम तो अपने नटवरके रूपको ही नित्य निरखना चाहते हैं।
हमारे हियरामें तो इसीकी होंस है।।
हमारे सारे मनोरथ तो आपको निरखते रहनेसे ही पूर्ण हो सकते हैं।
वे आपके साथ एकतालाभसे सन्तुष्ट नहीं हो पायेंगे।।''

(भक्तकवि श्रीदयारामभाई).

हमारी तपश्चर्याका फल वह परमात्मा है परन्तु यह फल हमें इसी भूमिपर ही पाना है. अपने भक्तिरसके स्थायी भावके आलम्बन विभाव वे भगवान् व्रजाधीप ही हैं ! उन्हें, परन्तु, भजना है इसी भूतलपर ही **''भगवानेव हि फलं**

स यथा आविर्भवेद् भुवि'' (पुष्टिप्रवाहमर्यादा : १७). अतः भूतलपर भक्तिकी इस महोपलब्धिकी लालसामें भक्त खुल कर कह पाता है : *''मुझे व्रज ही प्रिय लगता है मैं वैकुण्ठ नहीं जाना चाहता! वहां मैं नन्दकुंवरको कैसे प्राप्त कर पाऊंगा!''* (भक्तकवि श्रीदयारामभाई).

इस भूतलको तज कर स्वर्ग या वैकुण्ठ में जाना भी हमें तो रुचता नहीं है. क्योंकि भूतलपर भगवान्‌को भजना इसीमें जीवनकी सच्ची सार्थकता है : **''भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम देवाः भद्रं पश्येम अक्षिभिः यजत्रा स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः**'' (प्रश्नोपनिषत् : मंगला.).

परमात्माको परमपिता माननेकी तरह पृथ्वीको परममाता माननेकी हमारी धार्मिक दृष्टिके कारण, जैसे आजकल मां-बापके बीच तलाक़ हो जानेपर, अल्पवयस्क बालक माताके पास रहते हैं और वयस्क बालक अपनी मनोरुचिके अनुसार जहां चाहें रह पाते हैं, वैसे ही कुछ श्रीदयारामभाईने अल्पवयस्क बालककी मनोवृत्तिके वश दीन हो कर माता भूमिके पास रहना उचित मान लिया है! वयस्कोपम ज्ञानी बनना पसंद नहीं किया. अतएव वे कहते हैं : '' मुक्ति मुझे नहीं सुहाती है'' यह तो आधुनिक तलाक़ लेनेकी फेशनकी तर्जमें कुछ वर्णन हो गया! विवाहके बाद तलाक़की यह कथा भी आधुनिक दाम्पत्यकी करुण गाथा है. भगवान् विष्णु और भगवती पृथ्वीके मधुर दाम्पत्यके सनातन सम्बन्धमें तो ऐसा अव्यक्त भाव भी रसाभास ही प्रकट करता एक भक्तको प्रतीत होगा.

यह सारा उपद्रव मनुष्यको केवल अपने अभौमिक मोक्षकी त्वरासे ग्रस्त बना देनेके एक अवैदिक षड़यंत्रसे अनुप्रेरित पलायनवादी रुचिका दुष्परिणाम प्रतीत होता है! हमारी मौलिक रसदृष्टिकी अवधारणासे सर्वथा विपरीत. अभौमिक मोक्षके परम पुरुषार्थ होनेका अस्वीकार शक्य नहीं परन्तु धर्मपुरुषार्थ अर्थपुरुषार्थ एवं कामपुरुषार्थ के सन्तुलनकी परवाह किये बिना अधिकारानधिकारके विवेक बिना सभीको मोक्षमार्गी शिष्य बना देनेकी दुर्दम गुरुपदलालसाका अतिरेकके अलावा इसे और कुछ माना नहीं जा सकता! जो बुद्धिमान अपनी बुद्धिके प्रयोग किये बिना हमारे धर्मकी निन्दा ''भूतलसे बंधे हुवे धर्म'' (एरीींहेर्लीपवीशश्रळसळेप) के रूपमें करते थे, उन्हें अपने चरणोंके नीचे रहा धरातल अब खिसकता सा लगने लगा है. अतएव खपींशी ठशश्रळसळेीी ऊळरश्रेर्सीश की आवश्यकता उन्हें

सर्वाधिक सताने लगी है! एतावता अब इसे प्रस्तुतयुगीन आवश्यकताके रूपमें हमें अपने धर्ममें रही हुयी रसदृष्टिको मुखरित होने देना चाहिये. ताकि अपने धर्ममें रही हुयी गहन दार्शनिक चेतनाको निर्भयताके साथ बाहर प्रकट होनेका अवसर मिले!

::दर्शनमें अपनी रसदृष्टि::

दार्शनिक चिन्तनके नामपर अब जो कुछ चिन्तन हमें रुचने लगा है, वह यह कि विविध धर्म, देव, दर्शन और सम्प्रदायोंके भेद मिथ्या हैं. परमात्माके विविध देवरूपोंके भेद, गुणभेद, लीलाभेद या साधनाप्रणालीके भेदोंको आज सत्य कहने या मानने लगें तो हमारी गणना सम्प्रदायवादिओंमें होने लगती है. हम अति-अद्वैतवादकी ऐसी भयंकर मनोग्रन्थिसे पीड़ित हैं! आजसे सौ-सवासौ वर्ष पहले यूरोपमें अद्वैतवादकी आंधी प्रबल हुयी थी! वह वहां तो थम गयी, परन्तु हम अपने देशमें उसे अपना विश्वको प्रदान मान लेनेकी भ्रमणामें रचपच गये हैं!

द्वैत और अद्वैत दोनोंको पारमार्थिक माननेवाली हमारे उपनिषदोंकी प्राचीन दृष्टिसे हमारा तत्त्वचिन्तन वञ्चित होता जा रहा है. हमें अर्धसत्य जैसा केवल अद्वैत ही, तत्त्वदृष्टिमें न सही परन्तु धर्मदृष्टिमें तो निश्चयेन, अधिक सुहाने लगा है. क्योंकि सारे द्वैतोंको मिथ्या मान लेनेपर सारी देवमूर्तिओंसे, सारे साम्प्रदायिक बन्धनोंसे अर्थात् विधिनिषेधोंसे, सारी साधनाप्रणालिओंसे अथवा तो स्वस्वधर्मोंमें रहनेवाली ऐकान्तिक निष्ठाओंके गढ़ोंमें से भाग छूटनेकी एक वैचारिक सुरंग मिल जाती है.

अतः सम्प्रदायभेद, साधनाप्रणालीके भेद, तत्तत् देवताओंके रूपभेद गुणभेद लीलाभेद के नामपर होनेवाले अन्तरसाम्प्रदायिक कलहका बहाना बना कर भेदकी निन्दा करनेकी एक फेशन हमने शुरु कर दी है. जबकि हकीकत यह है कि ऐसे तमाम भेदोंमें अपनी निष्ठा तोड़ देनेके बावजूद, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, प्रान्तीय, राष्ट्रीय और उपमहाद्वीपीय क्षुद्र मुद्दोंके कलह तो हमने बढ़ाये ही हैं घटानेके बजाय! इन कलहोंमें पक्ष-प्रतिपक्षके पक्षपातद्वारा एकदूजेको तबाह कर देनेवाली निष्ठुर हिंसा घटी नहीं, बढ़ी ही है. हकीकतमें तो ऐसे झगड़े धर्म-सम्प्रदायोंके कारण होते नहीं थे परन्तु मानवकी झगड़ालू मनोवृत्तिके कारण होते

थे. उस मनोवृत्तिको सुधारनेमें अति-अद्वैतवादकी दृष्टि सर्वथा विफल ही रही परन्तु द्वैतके मिथ्या होनेके प्रचुर प्रचारके वश अपने-अपने विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों, आचार्यग्रन्थों और इष्टदेवों की साधनाप्रणालीमें से आधी-अधूरी श्रोताओंकी श्रद्धा या निष्ठा को तोड़ देनेमें अच्छी-खासी सफलता अति-अद्वैतवादको अवश्य ही प्राप्त हुयी है!

अतः सभी धर्मोंके चालाक वक्ता अपने-अपने धर्मों और ग्रन्थों को विश्वधर्म और विश्वग्रन्थ सिद्ध करनेको नित्य नई युक्ति खोज निकालने लगे हैं. पहले जो धर्मोपदेशक स्वयंके धर्मको सत्य और दूसरेके धर्मको असत्य सिद्ध करनेकी स्पर्धामें आत्मगौरव समझते थे, अब वे ही सच्ची या खोटी किसी भी युक्तिका सहारा ले कर, अधिकाधिक श्रोताओंमें स्वयंका धर्म विश्वधर्म है, ऐसी छाप खड़ी करनेकी स्पर्धामें उतर गये हैं. आजकल दूसरे सम्प्रदायके ग्रन्थोंके ऊपर प्रवचन कर, ग्रन्थके मूल लेखकने जिस बातकी कल्पना भी न की हो ऐसी व्याख्या उनपर थोप बिठानेकी फेशन लोकप्रिय हो गयी है. आज अपने विचारोंके वैश्विक **(Universal)** होनेकी छाप खड़ी कर के, परमतके मान्य ग्रन्थ, देवरूप, साधनाप्रणालीमें उसके अनुयायिवर्गकी निष्ठाके खण्डनका क्रूरताण्डव अति-अद्वैतवादके नामपर चलाया जाता है. इस क्रूर ताण्डवके कार्यक्रममें जो व्यक्ति दर्शक या श्रोता के रूपमें सम्मिलित न हो, उसे संकीर्ण सम्प्रदायवादी वृत्तिका मनुष्य मान लेनेकी एक अद्‌भुत वैचारिक संकीर्णता जोर पकड़ती जा रही है. वैसे वैचारिक संकीर्णताको घटानेमें ऐसी अति-अद्वैतवादवाली दृष्टि सफल हो नहीं पाती पर **''द्वयोः कलहे तृतीयस्य लाभः''** की कूटनीति भरे दाँवपेचमें निश्चय पर्याप्त कामयाब हो जाती है!

उपनिषदोंका तत्त्वचिन्तन द्वैतको मिथ्या मान कर अद्वैतको पुरस्कृत करनेका नहीं था; मूर्तको मिथ्या मान कर अमूर्तकी खोजमें भटकते रहनेका भी नहीं था; मर्त्यके बारेमें निर्मम-निष्ठुर हो कर अमृतकी खोजके उन्मादमें दौड़ते रहनेका भी नहीं था, स्थितिको भ्रान्ति मान कर गतिके दुश्चक्रमें या गतिको भ्रान्ति मान कर स्थितिकी जड़तामें फंस जानेका भी नहीं था, वह चिन्तन स्थूल या प्रत्यक्ष को धिक्कार कर, सूक्ष्म या परोक्षकी नीरस खोजमें मर-मिटनेका भी नहीं था.

उपनिषदोंकी दृढ़ विभावना थी कि एक ही ब्रह्ममें अनेकविध विरोधाभासी गुण रहते हैं. अतएव कहा गया है :

१.अजायमानो बहुधा विजायते.
२.अणोरणीयान् महतो महीयान्.
३.आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः.
४.यस्य अमतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद स,
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्.
५.भीषा अस्माद् वातः पवते भीषा उदेति सूर्यः,
भीषा अस्माद् अग्निश्च इन्द्रश्च मृत्युः धावति पञ्चम इति.
सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति.

(कठोप.२।२०-२१,केनोप.२।३,तैत्ति.उप.२।७)

अतः अज-नन्दात्मज, अणुपरिमाण-व्यापक, कूटस्थ-भूतलविहारी, अमत-त, अविज्ञात-विज्ञात, भयंकर-आनन्दरूप ऐसे अनेक रूप एक ही ब्रह्मके हो सकते हैं. जैसे एक ही रतिके स्थायी भावमें रूपगर्व-मान-प्रणयकलह-चिन्ता आदि विविध सञ्चारी भाव प्रकट होते हैं, ऐसे ही सत्यसंकल्प परमात्माके अद्वैतमें सर्वभवन सामर्थ्यके कारण अनेकविध नाम-रूप-कर्मके प्रकट हो सकते हैं **''एकमेव अद्वितीयं... तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय''** (छान्दो.उप.६।२।१-३). इस सृष्टिरूपी नाटकका कुशल अभिनेता ब्रह्म अनेक नाम अनेक रूप और अनेक कर्मों को धारण कर हमारे सामने प्रकट ही है **''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन यद् आस्ते''** (चित्यु.१२।७). अतः द्वैत और अद्वैत एक ही ब्रह्मके दोनों वास्तविक रूप हैं **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे''**(यथापूर्व). अतः ब्रह्मज्ञानके सन्दर्भमें उपनिषद् जैसे केवलद्वैतवादका **''न'इति-'न'इति''** द्वारा निषेध करता है वैसे ही केवलाद्वैतवादका भी निषेध फलित होता ही है.

ऐकान्तिक द्वैत और ऐकान्तिक अद्वैत दोनों ही अर्धसत्य सिद्ध होते हैं. ब्रह्म इन दोनों अर्धसत्योंसे कुछ अधिक ऐसा दोनोंका योग है. गुलाबका फूल उसकी सारी पंखुड़िओंके न केवल योग होता प्रत्युत उससे कुछ अधिक ही. अन्यथा उन्हीं पंखुड़िओंको नोच कर उनके ढेर लगानेपर भी गुलाबका फूल सिद्ध होना चाहिये था. पंखुड़िओंके आकारमें काट कर बांधी गयी रंगीन कागदकी कतरन भी गुलाब नहीं होता. और न शीशीमें भरा हुवा रुहे-गुलाब ही ! गुलाबकी वास्तविक पंखुड़ियां और उनका विशेष आकृतिमें संयोजन गुलाब होता है. इस गुलाबके फूल और उसकी पंखुड़िओंके बीच द्वैत होता है या अद्वैत इस समस्याका समाधान यदि केवलद्वैतवादके अनुसार देना चाहेंगे तो कहना पड़ेगा कि गुलाबको अपनी पंखुड़िओंकी अपेक्षा नहीं है. यदि केवल गुलाब या पंखुड़िओं मेंसे किसी एकको परमार्थ सत्य मान कर केवलाद्वैतवादका अवलम्बन करेंगे तो गुलाबकी पंखुड़िओंके ढेरको गुलाबी रंगके कागदकी कतरनोंके गुलाबके आकारमें संयोजनको भी हठात् गुलाबका फूल मानना पड़ेगा.

चित्रफलक और रंगों में जैसे चित्रका विश्लेषण शक्य नहीं, सितार और उसके सात सुरों में जैसे ललित रागके लालित्यका विश्लेषण शक्य नही हो पाता, वैसे ही द्वैत और अद्वैत में, या मर्त्य और अमृत में, या सक्रिय और निष्क्रिय में, या प्रत्यक्ष और परोक्ष में ब्रह्मका विश्लेषण भी शक्य नहीं नेति ! नेति !! नेति !!!

तब 'ब्रह्म' किसे कहना ? इन विरोधाभासी रूपोंकी समग्रता और उससे भी कुछ अधिक जो हो वह ब्रह्म है **''स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलं पुरुष एव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्म्''** (पुरु.सू.१). ब्रह्म विरोधाभासी रूपोंका ढेर नहीं होता परन्तु उनका एक विशिष्ट संयोजन है. वह गुलाबके फूल जैसा सुगंधित, सितारके सुरोंके जैसा सुललित, कविके कण्ठसे निकले शब्द और छन्द जैसा काव्यात्मक और एक कुशल चित्रकार द्वारा विविध रंगोंसे रंगे चित्र जैसा आकर्षक !.

परिसंख्येय नहीं किन्तु अपरिसंख्येय विविध विरोधाभासी रूपोंके विशिष्ट संयोजन ब्रह्म है. अतएव ऐसा नहीं सोच लेना चाहिये कि अपने घटक पदार्थोंसे घटित होनेके कारण निज घटकोंके संघातके अलावा वह कुछ भी नहीं. क्योंकि

घटकतया अनुभूत होते श्रुत्युक्त पदार्थोंका भेद उसमें प्रकट हुवा है नकि वह अपने घटकतया अनुभूत होते श्रुत्युक्त पदार्थोंसे परमार्थतया आरब्ध या अपरमार्थतया प्रतीत्यसमुत्पन्न आभास. अतः अनुभूयमान घटक विरोधाभासी रूपोंमें उसका विश्लेषण शक्य नहीं. एक-एक पंखुड़ी डंठुल रंग गन्ध आकृति और परिमाण आदिमें विश्लेषणद्वारा वास्तविक गुलाबके फूल और उसके प्रत्यय को बिखेर दिये जानेपर जैसे वह ग़ायब हो जाता है; ऐसे ही, मूर्तामूर्त मृत्यामृत चलकूटस्थ परोक्षापरोक्ष द्वैताद्वैत आदिमें विश्लेषण कर दिये जानेपर ब्रह्मको भी जान पाना ही अशक्य हो जायेगा तो उसके आनन्द ले पानेकी तो कथा ही बच नहीं जायेगी. अतएव ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें कहा गया **''स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्''** (**वहीं**). **''सत्' + 'त्यत्' = 'सत्य''** समीकरणमें दरसायी गयी समग्रता ही परम सत्यता है. वह एक विशिष्ट संयोजनवश 'सत्' के बाद 'त्यत्' को उपस्थापित करनेपर 'सत्य'को प्रकट हो पाती है. ''त्यत्' + 'सत्' = 'त्यस'' 'सत्' और 'त्यत्'का ढेर खोजा जा सकता है परन्तु उसमें 'सत्य' उभर नहीं पाता. समग्रताके बोधके हेतु पुष्प संगीत चित्र या काव्य गत रसानुभूतिके अधिकारी हृदयकर जो भाव होता है, वही यदि न हो तो, पंखुड़ियां सुरों रंगों या शब्दों को बिखेर दिये जानेपर, आत्यन्तिक अभाव ही अन्तमें सबका सिद्ध हो जायेगा. अतएव भागवतपुराण कहता है कि उस परमसत्यरूप परमात्माका वपु-स्वरूप भावात्मक संयोजनमें रहा हुवा है; और उसे भावयोगद्वारा की जाती विभावनाद्वारा ही जाना जा सकता है, वह स्वरूप विश्लेषणद्वारा होते वियोजनमें शक्य नहीं **''त्वं भावयोग-परिभावित-हृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसां, यद्-यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तद्-तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय''** (भाग.पुरा.३।९।११).

इस सृष्टिके आरम्भका चित्रण उपनिषद्में अतिशय आकर्षक रीतिसे दिया गया है :

> ''यह जो कुछ दिखलायी दे रहा है वह पहले केवल आत्मा ही था. अतएव उसे अपनी आत्मचेतनामें अपने अलावा किसी दूसरेका भान हुवा ही नहीं. अतः सर्वप्रथम उस आत्माने अपने-आपको 'अहं' के रूपमें पहचाना. अतएव आज भी सभी चेतनाओंमें अहंकारका भान

प्राथमिक ही होता है. इस अहन्ताके प्राथमिक बोधसे जो भी सम्पन्न होता है उसके सारे पाप भस्म हो जाते हैं. फिरभी अपनी इस आहमिकी एकतामें उसे भीतिका भाव जगा. अतएव आज भी एकाकी व्यक्ति भयभीत हो जाता है. परन्तु उसने यह सोचा कि जब मेरे सिवा अन्य कोई है ही नहीं तब भयभीत होनेका कोई कारण नहीं ऐसा सोचनेमात्रसे उसका भय निवृत्त हो गया. भय तो किसी दूसरेसे ही होता है (अतएव जो इसी तरह एक तात्त्विक अद्वैतकी भावना अनेकविध नाम-रूपकर्मोंके द्वैतमें कर पाता है, उसका भय निवृत्त हो जाता है!). उसे, परन्तु, अपनी एकाकिता रुचिर नहीं लगी. अतएव आज भी किसीको एकाकी रहना सुहाता नहीं है. उसे किसी दूसरेकी कामना हुयी (वह दूसरा कोई कहीं ब्रह्मके बाहरसे तो आ ही नहीं सकता था, क्योंकि समग्र ब्रह्मके बाहर कुछ हो ही नहीं सकता). अतः उसने अपने-आपको ही दो रूपोंमें बांट लिया. एक रूपमें वह पति बना और दूसरे रूपमें पत्नी. इस तरह दो रूपोंमें बंट जानेपर जिस रूपमें वह पत्नी बना उस रूपने पति बने रूपसे अनेकानेक रूप बदल कर छिपना चाहा अतः पति बने रूपने भी तदनुसार रूप बदल-बदल कर पत्नीरूपको खोज ही निकाला! इस तरह एकदूसरेसे छिपने और खोज निकालने के खेलमें दोनोंने अनन्त रूप धारण किये वही तो इस सृष्टिका मौलिक स्वरूप है.''

(बृह.उप.१।४।१५).

द्वैतमें भयकी सम्भावना है, परन्तु अद्वैतमें रमण असम्भव हो जाता है! अपनी आवश्यकता न तो द्वैतकी है और न अद्वैतकी. हमारी आवश्यकता है निर्भय रमणकी. जो केवल द्वैत होता तो रमण सम्भव था पर उस रमणमें भयका निराकरण नहीं हो पाता! जो केवल अद्वैत होता तो पूर्ण निर्भयता मिल सकती है पर उस निर्भयतामें रमण सम्भव नहीं! परमात्माने निर्भय रमणकी सिद्धिके हेतु द्वैत प्रकट किया. एकाकितामें अनेकता उभारी गयी. अमूर्तको मूर्त रूप धारण करने पड़े. अमृत स्वयं ही मर्त्य बन गया. स्थितिमें गतिके स्पन्दन होने लगे. अनेक गतिशील रूप उस एक कूटस्थ ब्राह्मिक अवकाशमें विचरण करने लग गये. उस सनातन आत्मसत्तामें रहे हुवे आत्मानन्दकी सनातन आत्मचेतनामें कुछ प्रत्यक्ष तो

कुछ अप्रत्यक्ष जैसा घटित हो गया. अतः अनिर्वचनीय आत्मानन्दके अगाध सिन्धुमें ''क्वासि! क्वासि?'' की विरहव्यथायुक्त वाणी तब लहराने लगी. तब जो मूर्त मर्त्य प्रत्यक्ष रूप थे वे गतिशील हो कर, जो अमूर्त अमृत परोक्ष कूटस्थ अचल रूप थे उन्हें खोजने लगे. अतएव शुकमुनि भागवतमें कहते हैं : **''गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनां यो अन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेन इह देहभाक्''** (भाग.पुरा.१०।३३।३६) अर्थात् गोपिकाओंके भीतर उन गोपिकाओंके पतिओंके भी भीतर और सभी देहधारिओंके भीतर जो छिप कर बैठा हुवा है, वही इस सृष्टिकी लीलाका मुख्य नायक एक रूपमें छिप कर दूसरे रूपमें स्वयं अपने-आपको ही खोज रहा है.

एक भाषामें लिखे गये ग्रन्थका जब किसी दूसरी भाषामें अनुवाद किया जाता है तब भाषा ही केवल बदली जाती है, भाव नहीं. यदि अनुवादमें भाव बदल जाये तो ऐसे अनुवादको अशुद्ध माना जाता है. इसी तरह रमणके भावसे मुखरित हुयी वाणीमें कभी भयके सुर भी सुनायी देने लगते हैं. उसका अनुवाद यदि अद्वैतकी भाषामें कर दिया जाये तो हमें निर्भयता मिल जाती है. ऐसा करते समय यह सावधानी रखनी आवश्यक होती है कि रमणका भाव कहीं खो न जाये! **''सवै नैव रेमे... स द्वितीयम् ऐच्छत्''** (बृह.उप.१।४।३) की द्वैतवाली भाषाका मुख्य भाव रमणका ही था, अतएव **''एकमेव अद्वितीयम्''** (छान्दो.उप.६।२।१) की अद्वैतकी भाषामें उसका अनुवाद करनेपर **''एको अहं बहु स्यां प्रजायेयम्''** अर्थात् एक ही तत्त्व रमणार्थ अनेक नामरूपकर्मोंको स्वयं धारण करता है, यह कदापि विस्मृत नहीं होना चाहिये. निर्भय रमणके इस नाटनको जो भलीभांति निभाना हो तो, द्वैत और अद्वैत दोनों ही भाषाओंका समुचित ज्ञान आवश्यक है. अन्यथा नाम-रूप-कर्मोंके इस महामेलेमें निर्भय होनेकी अंधी भागदौड़में मृदुतम-सुकोमल रमणका भाव कहीं कुचल न जाये!

अतः उपनिषद् कहता है : **''इस दिखलायी देती अनेकतामें ही यदि हमें एकताके अनुदर्शन हो पाते हैं तो उस अनेकताके कारण होते शोक-ोह कष्ट नहीं दे पायेंगे (यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानतः तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः)!''** (ईशावा.उप.७)

वनमें उन्मुक्त विचरते सिंहके दर्शन सामान्य दर्शकमें नीरस शोक-मोह-भय पैदा करते हैं, क्योंकि दृश्य और द्रष्टा के बीच स्वयं द्रष्टाको द्वैतका स्फुरण होता है - भक्षक और भक्ष्य होनेकी भीतिके वश. फिरभी केवल सिंहके चित्रको देखनेमें वैसी भयंकरताकी रसानुभूति नहीं होती, जैसी गर्जना करते और सरकसकी रिंग्में खुल्ले फिरते साक्षात् सिंहको देख कर होती है, क्योंकि चित्रके द्रष्टा और दर्शन के स्वयं पारमार्थिक सत्य होनेपर भी पुरोवर्ती चित्रित सिंह पारमार्थिक सत्य नहीं होता. अतः सिंहके चित्रके द्रष्टाका केवलाद्वैत रसानुभूतिमें बाधक बन जाता है. सरकसमें सिंहको निहारना निश्चय ही भयरूप स्थायी भावकी रसानुभूति है. सरकसके अद्वैतमें दर्शक और दृश्य सिंह के द्वैत भीतिके स्थायी भावको रसानुभूतिमें पल्लवित कर देते हैं ! सिंहके भयंकर होनेके शुष्क तथ्यको रिंगमास्टर एक कवि या चित्रकार की तरह जैसे रसात्मक भावमें रूपान्तरित कर देता है तोभी सरकसमें सिंहको देखे बिना सिंहकी भयानक कथा सुना कर जिस बालकको अस्वाभाविक रीतिसे डरपोक बना दिया गया हो तो, वह सरकसके सिंहको देख कर भी अतिशय अधीर बन रोने-चिल्लाने लग जाय या घबरा जानेसे उसकी घिग्घी बंध जाये तो उसमें दोष उसके गुरुजनोंका ही होता है रिंगमास्टरका नहीं.

एकताके अनुदर्शनमें, अनुवादकी तरह, अनेकतामें सम्भवरूप रमणका भाव बना रहना चाहिये, अन्यथा तो भ्रामक अनुवादकी तरह वह अनुदर्शन भी भ्रमपूर्ण सिद्ध होगा. अद्वैतकी निर्भीक भाषामें अरतिका दोष प्रकट हो जायेगा. यह सृष्टि भी वस्तुतः तो एक काव्य ही है, जिसकी रचना परमात्माने की है. क्योंकि अतीतानागतको जान पाना या सोच पाना सर्वज्ञ या कवि दोनोंमें समान ही होता है अतः श्रुति-स्मृतिओंमे परमात्माको 'कवि' भी कहा गया है : **''अनन्तम् अव्ययं कविम्'' - ''कविं पुराणम् अनुशासितारम्''** (महाना.उप.११।७ - भग.गीता.८।९).

अब तो हम ''रसात्मक शब्दसंयोजन'' जैसे सीमित अर्थोंमें 'काव्य' शब्दका प्रयोग करते हैं. संस्कृतभाषाके सौन्दर्यशास्त्रमें नाटकको भी दृश्यकाव्य माना गया है. थोड़ेसे मुक्ताग्रह हो कर, यदि सृष्टिको भी हम एक काव्यतया मान्य कर पायें तो पांचों ज्ञानेन्द्रियों (आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा) द्वारा इस सृष्टिकाव्यको देखा जा सकता है, सुना जा सकता है, सूंघा जा सकता है, चखा

जा सकता है; और छुआ भी जा सकता है. इतना ही नहीं, परन्तु पांच कर्मेन्द्रियों (हाथ, पग, वाणी आदि) से इस काव्यको पकड़ा सकता है. इस काव्यमें पादविहार हो सकता है, इस काव्यका गान किया जा सकता है. केवल मूक दर्शक बने रहनेकी नियति या यन्त्रणा इस काव्यमें है नहीं ! इसमें हिस्सा लेना हो तो वह और न लेना हो तो साक्षिभाव द्वारा भी इसे देखा जा सके ऐसे दिग्दर्शकीय निर्देश इस सृष्टिनाटककी स्क्रिप्ट्में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के समायोजन द्वारा किया गया है. इस नाटककी कथामें हमें क्या रोल अदा करना है, क्या-कैसे संवाद बोलने हैं, वह सब हृदयमें बैठा हुवा अन्तर्यामी परमात्मा हमें क्षिप्रनिर्देश **(Prompt)** द्वारा जता रहा ही है. उस अन्तःप्रेरणाको अपनी बराबर जान-समझ पायें तदर्थ हमें बुद्धिरूप अन्तःकरण प्रदान किया गया है. इस नाटकमें स्वयं हमारे और दूसरेके अभिनेताओंके अभिनयका आनन्द उठा पायें एतदर्थ हमें मन भी प्रदान किया गया है. इस नाटकमें अभिनयकी तन्मयतामें किसी भी प्रकारका व्यवधान न पैदा हो तदर्थ अहन्ता-मताकी भूलभुलैयाके भीतर हमें रखा गया है. यह अहन्ता-मताका भुलावा यदि केवल अपने ही अभिनय पूर्ण करनेमें सीमित हो जाता है तो उसे 'अविद्या' कहते हैं. पर यदि यह अहन्ता-मता इस सृष्टिकी क्रीड़ाको समग्रतासे आवृत कर पाये तो उसे विद्याकी पराकाष्ठारूप 'सर्वात्मभाव' कहा जाता है.

महर्षि वामदेवको, अतएव, ब्रह्मानुभूतिकी मस्तीमें अपना अहंभाव अपने देहमें सीमित लगनेके बजाय समग्र ब्रह्माण्डमें व्याप रहा सा लगने लगा था : **''तद्धैतत् पश्यन् ऋषिः वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुः अभवं अहं सूर्यः च''** (बृह.उप.१।४।१०).

किसी भी काव्य नाटक या उपन्यास के पात्र संवाद या कथावस्तु के साथ जब पाठक या दर्शक में साधारणीकरण **(Identification)** का भाव जग नहीं पाता तो रसका आविर्भाव अशक्य हो जाता है. पात्रके सुख-दुःख जब तक पाठक या दर्शक को अपने सुख-दुःख नहीं लगते तब तक रस प्रकट नहीं हो पाता. किसी पात्रके करुण रुदन द्वारा अपना हृदय यदि करुणासे भर नहीं जाता हम करुणरसका अनुभव कर नहीं पाते. प्रणयप्रसंगमें छलकती दो पात्रोंके बीचकी

अनुराग भरी प्रसन्नता हमें यदि गुदगुदा नहीं पाती तो शृंगाररसका अनुभव हमारेलिये शक्य नहीं.

नाटक और दर्शक के बीच रही द्वैतकी धारणा, यदि नाटकको देखते समय शिथिल न हो पाती हो तो ऐसे नाटकके पात्र, संवाद या कथा के साथ दर्शकके भीतर साधारणीकरण अशक्य बन जाता है. यदि रामलीलाका दर्शक ''रामकी सीताको रावण उठा गया उसमें मेरा क्या गया ?'' ऐसा द्वैतभाव साथ रामके साथ रख बैठा हो, वह रामके हृदयको सालते सीताके विप्रयोगको समझ नहीं पायेगा. ऐसे दर्शक जब रामलीला देखनेको आ धमकते हैं तब उनके राम सचमुचमें रोते होंगे ! सहानुभूतिविहीन दर्शक प्रत्येक रामके लिये रावणसे भी अधिक भयंकर सिद्ध होते हैं, क्योंकि रावणको मार कर अपनी सीताको पा लेना रामलीलामें शक्य होता है परन्तु दर्शकोंकी सहानुभूति पा लेनी शक्य नहीं ! सृष्टि भी एक भगवल्लीला है. इसमें द्वैतभाव रखेनेवाले ऐसे दर्शकोंके बारेमें उपनिषद्ने चेतावनी दी है : **''द्वितीयाद् वै भयं भवति''** (यथापूर्व)

दूसरी ओर रामलीलाके नाटकको मिथ्या दृश्य मान कर स्वयंको केवल पारमार्थिक द्रष्टा माननेवाले केवलाद्वैतमें ग़ाफिल रहनेवाला दर्शक भी रामलीलामें रम नहीं पाता ! केवल-अद्वैतवादकी झोंकमें फंसे हृदयमें सहृदय दर्शक मर जाता है. अतः वास्तविक रामचरित्रको भी रूपक मान लेना अधिक रुचता है. ऐसे दर्शकको रामकथा कहनेको कहा जाये तो वह कुछ इस तरह ही प्रस्तुत करना चाहेगा :

> यह अपना जीवात्मा ही आत्माराम राम है. उसकी सीता मिथिलाकी राजकुंवरी नहीं परन्तु आत्माद्वैतमें रहनेवाली शान्ति वही वास्तविक सीता है. इस पाञ्चभौतिक देहकी पंचवटीमेंसे रागद्वेषके द्वैतभावका रावण उस आत्मशान्तिकी सीताको हर जाता है. इस भयंकर राक्षससे सीताको छुड़ाना हो तो सांसारिक मोहके सागरकी परली पार जाना पड़ेगा. पारंगत(!) होना पड़ेगा. फिर रागद्वेषके द्वैतभावको रावणको मार कर, तुम्हारी आत्माद्वैतकी शान्तिकी सीता तुम्हें फिर मिल जायेगी !

उपनिषद् किन्तु कुछ अन्य ही बात कहना चाहते हैं ! कोई भी ज्ञानी जीवात्मा परमात्मासे अधिक ज्ञानी तो हो नहीं पायेगा. उस परमात्माको भी यदि आत्मरमणमें परिपूर्ण रमणकी रसानुभूति न हो पायी ''स वै नैव रेमे. तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्. सह एतावान् आस. स आत्मानं द्वेधा आपातयत् पतिः च पत्नी च अभवताम्'' (यथापूर्व), तब आप महोदय इतने कितने बड़े ज्ञानी बन गये कि एकाकितया इस जगत्में आत्माराम बन कर बिराजमान रह पायेंगे ?

परमात्माकी इस रामलीलामें दर्शकके रूपमें आनेवाले जो परमात्माकी लीलामें लीलाराम बननेकी बजाय लीलासे विरत हो कर केवल आत्मदर्शनमें रमनेवाले आत्माराम बनना चाहते हैं, उनका भविष्य तो श्रुतिने चुपचाप बता दिया कि : **''तस्माद् एकाकी न रमते !'' ''तुम आत्माराम बन कर एकाकी रमण कर नहीं पाओगे''** यह भविष्यवाणी कभी खोटी नहीं पड़ती.

सीता और राम के प्रिया-प्रियतमके द्वैतघटित प्रणयदृश्यको मायाका मिथ्या 'कपटनाटक' कह कर अस्वीकार करनेवाले, स्वयंको केवल पारमार्थिक द्रष्टा मान कर चल पड़ते हैं, परन्तु उनसे आत्मकैवल्यके ध्यानमें आवश्यक मौन निभ नहीं पाता ! अतः वे आत्माके अद्वैतपर प्रवचन प्रारम्भ कर देते हैं. ऐसे आत्माराम बनना चाहते ज्ञानीकी वाणी सुनने जिज्ञासु श्रोतागण जुट जाते हैं. प्रतिदिन ज्ञान प्राप्तिके हेतु श्रवणव्यसनी श्रोता सच्चे विरक्त या मुमुक्षु हों या न हों; फिरभी, वक्ताको तो आत्मीय लगने ही लगते हैं. अन्ततः यह आत्माराम साधक श्रोताराम (श्रोताओके समक्ष किये जानेवाले आत्माके अद्वैतके प्रवचनमें रमा हुवा) वक्ता बन कर रह जाता है ! अतः श्रुतिकी भविष्यवाणी प्रमाणिक सिद्ध हो जाती है : ''उस परमात्माको एकाकी रहना सुहाया नहीं अतः आज भी कोई एकाकी रह नहीं पाता !''

अतः द्रष्टाकी केवलाद्वैती दृष्टि रामलीलाके रसमें रसाभास पैदा करनेवाली होती है. केवलाद्वैतकी परिणति या तो केवल अरतिमें अथवा तो केवल श्रोतारतिमें पर्यवसित हो जाती है. इस जगत्में ऐकान्तिक आत्मरमण सम्भव नहीं.

नाटक देखते समय द्रष्टा और दृश्य के बीच तादात्म्यके भावके ऐसे निर्झर बहने चाहिये कि जिसके प्रवाहमें हमारी चेतनामें लगे केवल-द्वैत और केवल-अद्वैत के सारे धब्बे धुल जायें ! स्वयंके अद्वैत स्वरूपमें भरे निजानन्दके सिन्धुमें नामरूपात्मक द्वैतकी अनेक परमानन्दरूप लहेरें परमात्माने प्रकट की है. इस आधिदैविक लीलामें हमारे भीतर तादात्म्य-भाव खिल पाये एतदर्थ उपनिषदोंने जो पाठ हमें पढ़ाना चाहा **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वम् असि''** (छान्दो.उप.६।८।७) इसमें महत्त्वपूर्ण रहस्य यही है कि दिखलायी देती जड़-चेतनरूपा सृष्टि और उस आनन्दरूप परमात्मा के बीच घनिष्ठ तादात्म्य है : सब कुछ ऐतदात्मक है वह आत्मा है और तुम भी वही ऐतदात्मक हो. ''अहं ब्रह्मास्मि'' की साधनाका तात्पर्य भी अहंकारास्पद जीवात्माके केवल अद्वैतमें न हो कर, जीवात्मा और परमात्मा के बीच रूपगत वास्तविक द्वैत होनेपर भी तत्त्वगत मौलिक अद्वैतके प्रतिपादनमें रहा हुवा है. लीलाके दृश्य और द्रष्टा के बीच एक साधारणीकरणमें उपनिषद्का तात्पर्य निहित है.

आधुनिक वैज्ञानिक तत्त्वचिन्तनमें देश (Space) काल (Time) द्रव्य (Matter) और ऊर्जा (Energ) के परस्पर सापेक्ष (Relative) होनेकी धारणा प्रस्तुत हुयी है. इसकी प्रायः अतर्क्य व्याख्या प्रस्तुत की जाती हैं कि महान वैज्ञानिक आईनस्टाईन्ने भी देश काल द्रव्य और ऊर्जा के द्वैतको पारमार्थिक सत्य (Absolutely Real) न मान कर केवल व्यावहारिक सत्य (Relatively Real) स्वीकारा है.

सापेक्षतावादके सिद्धान्त (Theory of Relativity) की, मेरी नम्र धारणाके अनुसार, यह विपरीत व्याख्या है. क्योंकि इन चारों पदार्थोंके स्वरूप परस्पर सापेक्ष है; पर उनकी सत्ता समान ही है. क्योंकि किस निरपेक्ष पारमार्थिक सत्ताकी अपेक्षा इन चारों पदार्थोंको सापेक्ष या व्यावहारिक मानना ? इस प्रश्नकी न तो आईन्स्टाईन्ने चिन्ता की और उस सिद्धान्तमें किसी पारमार्थिक सत्ताकी अपेक्षा इन्हें आपेक्षिक कहना अभिप्रेत है. ये तो परस्परसापेक्ष हैं. एकदूजेसे अवर या पर नहीं. अतः परस्पर सापेक्ष और व्यावहारिक सत्य ये दोनों पर्यायवाची शब्द नहीं हैं.

व्यावहारिक सत्य वस्तुतः सत्य नहीं होता केवल व्यवहारोपयोगी सत्ता ही उसकी होती है पर्देपर दिखलायी देनेवाले चलचित्रकी तरह अथवा पत्रमुद्रा (currency note) के मूल्यकी तरह. जिस क्षण अपनी चेतनामें कर्ता भोक्ता या द्रष्टा होनेकी स्फुरणा समाप्त हो जाती है उसी क्षणके बाद व्यावहारिक सारे अवभास स्फुरित होने बंद हो जायेंगे. व्यावहारिक सत्य बाधित हो जाता है. कर्ता द्रष्टा या भोक्ता होने की भ्रान्तिके निवृत्त होते ही शुद्ध चेतनाको मुक्त माना जाता है. उस मुक्तावस्थामें व्यावहारिक सत्यकी स्फुरणा होती नहीं है. ब्रह्मज्ञान प्रकट होते ही अर्थात् पारमार्थिक सत्यके साक्षात्कारवश, भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके मतके अनुसार, देश काल द्रव्य आदिके द्वैत बाधित हो जाते हैं. जबकि आईनस्टाईन्के मतके अनुसार सापेक्ष सत्यका कभी बाध नहीं होता है, चारों देश-काल-द्रव्य-ऊर्जा पारमार्थिकतया सापेक्ष होते हैं. सापेक्षतावादका सिद्धान्त देश काल द्रव्य और ऊर्जा के द्वैतको मिथ्या प्रतिभास या मिथ्या व्यवहार (Subjective) नही मानता है. इन देश काल द्रव्य और ऊर्जा की सत्ता किसी जीवचेतना या ईश्वरचेतना की स्वप्नोपम मायिक कल्पना नहीं. देश काल द्रव्य और ऊर्जा मेंसे प्रत्येककी सत्ता वास्तविक (Objective) होनेपर भी एकदूजेसे निरपेक्ष न हो सापेक्ष अर्थात् इतरेतरनिर्भर होती हैं. इन चारोंके स्वरूप ऐसे हैं कि चारोंको एकदूजेकी अपेक्षा है. आईनस्टाईन् तो इतना ही कहना चाहता था.

इतरेतरसापेक्षके आधारपर द्रव्यका ऊर्जामें रूपान्तरण शक्य बना. यह व्यावहारिक सत्ताके सोपानोंपर आरोहण कर पारमार्थिक सत्ताके स्तरपर पादन्यास जैसी बात नहीं. क्योंकि सापेक्षतावादके सिद्धान्तके अनुसार द्रव्य और ऊर्जा दोनों ही सापेक्ष हैं. अतः यदि पारमार्थिक हों तो दोनों ही पारमार्थिक हैं और व्यावहारिक हों तो दोनों ही व्यावहारिक हैं. अतः स्थूल द्रव्योंके द्वैतसे सूक्ष्म ऊर्जामें अद्वैतको पानेकी कथा यहां अप्रासंगिक लगती है.

ऐसे सापेक्षतावादने देश काल द्रव्य और ऊर्जा में मान लिये गये केवल-द्वैत या केवलाद्वैत की सम्भावनाको सर्वथा अतर्क्य बना दिया है. जो ये चारों पदार्थ भिन्न-भिन्न होनेपर भी एकदूजेकी अपेक्षा रखनेवाले - एकदूजेपर निर्भर हों तो यह सिद्ध हो जाता है कि ये चारों ही पदार्थोंके द्वैत किसी एक समष्टि

(Whole)के चार अंग हैं, पहलु हैं या प्रक्रिया (Parts, aspects or functions of a Single system) हैं. **''द्वै वाव ब्रह्मणो रूपे : मूर्तं चैव अमूर्तं च, मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च त्यं च.''** (यथापूर्व).

उपनिषद्द्वारा उपलक्षण शैलीमें दरसाये गये विविध युगलोंकी वास्तविकता देश काल द्रव्य और ऊर्जा में पहचानी जा सकती है. द्रव्य मूर्त होता है और ऊर्जा अमूर्त. द्रव्यसे ऊर्जामें और ऊर्जासे द्रव्यमें होते रूपान्तरणको व्यष्टिरूपेण निहारनेपर वे मर्त्य प्रतीत होते हैं; परन्तु, समष्टिरूपेण देखे जानेपर ऐसा लगता है कि न तो कुछ उत्पन्न हो रहा है और न कुछ नष्ट ही हो रहा है, केवल एक रूपमेंसे दूसरे रूपमें परिवर्तन हो रहा है. अर्थात् समष्टिरूपेण सब कुछ अमृत ही है. त्रि-आयामी (Three Dimensional) रूप स्थिर देशमें 'स्थित' और भूतसे भविष्यकी एक ही दिशामें चलनेवाले एक-आयामी (Mono Dimensional) रूप सञ्चारी कालमें 'यत्'को पहचाना जा सकता है. इसी तरह देश काल द्रव्य और ऊर्जा के विविध व्यष्टिरूपोंको प्रत्यक्षद्वैतके रूपेण जाना जा सकता है और इन चारोंके समष्टिरूपका अपरोक्ष अद्वैत भी माना जा सकता है. एतावता सिद्ध होता है कि ''सत् च त्यं च'' के युगलकी वास्तविकताका अस्वीकार सापेक्षतावादमें भी शक्य नहीं.

कुछ आधुनिक वेदान्त प्रवचनकार कहते हैं कि परस्परसापेक्ष होनेसे ही देश काल द्रव्य और ऊर्जा के द्वैतको पारमार्थिक सत्य नहीं माना जा सकता. उनकी धारणाके अनुसार जो निरपेक्ष सत्य हो उसे ही पारमार्थिक सत्य माना जाना चाहिये. सत्यकी ऐसी परिभाषा ही दुराग्रहपूर्ण प्रतीत होती है. क्योंकि इनकी धारणाके अनुसार ब्रह्म सापेक्ष वस्तु हो नही सकता अतः निरपेक्ष ब्रह्मसे अतिरिक्त सभी कुछ मायिक या अज्ञानोपाधिक प्रतिभास या अविद्याकल्पित होना चाहिये.

अब उपनिषद् जब ऐसा कहते हैं कि **''सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति''** (यथापूर्व)तब इन विचारकोंको लगता है कि पारमार्थिक ब्रह्मकी तरह कोई एक मायिक ब्रह्म भी होना चाहिये, जिसे बहुभवनकी कामनाकी हो सकती है! इस ब्रह्मको 'मायाशबलित' कहा जाता है. ब्रह्मके पारमार्थिक अद्वैतमें यों

मायिक द्वैतकी कल्पना प्रस्तुत की जाती है. उपनिषदोंमें भी ऐसा एक वचन मिलता माना जाता है : **''अस्माद् मायी सृजते विश्वम् एतत्''** (श्वेता.उप.४।९). इस वचनके आधारपर इन विद्वानोंकी धारणा और अधिक बद्धमूल हो जाती है कि निरपेक्ष पारमार्थिक ब्रह्म और सापेक्ष मायाशबलित ब्रह्म अलग-अलग होने चाहिंये.

ऐसी व्याख्यामें सर्वाधिक आपत्तिजनक तथ्य एक यह है कि 'मायी' शब्दका अर्थ संस्कृतभाषाके व्याकरणनियमके अनुसार 'मायिक' नहीं होता. जिसमें मायाका सामर्थ्य हो उसे 'मायी' कहा जाता है.

मायाकल्पित या मायाद्वारा भासित पदार्थको 'मायी' कहना सुसंगत नहीं लगता.

''अस्माद् मायी सृजते विश्वम् एतत्।
तस्मिन् च अन्यो माययां संनिरुद्धः।।
मायान्तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्य अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वम् इदं जगत्।।''

(श्वेता.उप.४।९-१०).

अविकलरूपेण यह वचन यों है. यहां 'अस्माद्' पदके अनेक अभिप्राय कहे-सोचे जा सकते हैं. किसी भी तरह परन्तु जिस मायीको 'विश्वस्रष्टा' कहा गया है वह स्वयं मायामें सन्निरुद्ध या शबलित हो नहीं सकता. मायाको इस विश्वकी 'प्रकृति' या 'उपादान' कहना और मायी महेश्वरको 'स्रष्टा' या 'कर्ता' कहना और उससे भिन्न किसीको मायामें 'सन्निरुद्ध' कहना, ये सारी बातें स्वयंमें इसका प्रमाण बन जाती हैं कि महेश्वर मायाका नियामक या प्रयोक्ता है, नियम्य या प्रयुक्त नहीं. उस महेश्वरके अवयवोंसे जगत् व्याप्त है, ऐसा प्रतिपादन भी मायीके अमायिक होनेका प्रमाण जाना चाहिये. क्योंकि वह उसके अपरिच्छिन्न होनेके तथ्यको पुष्ट करता है.

'माया' शब्दका अर्थ प्रकृति किया गया है. अतः यह स्थूल-व्यक्त जगत्की सूक्ष्म-अव्यक्त अवस्था होनी चाहिये. अथवा परमात्माके अस्थूल बीजरूप अद्वैतमें पत्र-पुष्प-फलोपम द्वैतकी ही सूक्ष्म सम्भावनोंको 'प्रकृति' कहा जा सकता है. प्रकृतिको परमात्मासे भिन्न मानें या अभिन्न मानें, किसी भी संयोगमें प्रकृतिके बंधनसे मायी परमात्मा स्वयं बंधता नहीं है. वैसे परमात्मा स्वयं महेश्वर होनेके रूपमें तो बंधता नहीं है पर जीवात्मरूपेण बंध भी जाता है. ऐसी स्थितिमें सृष्टिके स्रष्टाको 'मायाशबलित' कैसा कहा जा सकता है ?

उल्लेखनीय होता है कि उपनिषद् भगवद्गीता भागवतपुराण और ब्रह्मसूत्रों के समन्वितप्रामाण्यके अनुसार जगत्का उपादान परमात्मासे अव्यतिरिक्त प्रकृतिके रूपमें ही सिद्ध होता है :

''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि.''

(छान्दो.उप.६।८।७).

''भूमिः आपो अनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा।।
अपरा इयम् इतस्तु अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो यया इदं धार्यते जगत्।।''

(भग.गीता.७।४-५).

''द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः।।''

(भाग.पुरा.२।५।१४).

''प्रकृतिः च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्, अभिध्योपदेशात् च...
आत्मकृतेः परिणामात्, योनिश्च हि गीयते.''

(ब्र.सू.१।४।२३-२७).

भागवतके श्लोकमें द्रव्य (Matter) कर्म (Kinetic Energy) स्वभाव (Static Energy) काल (Time) जीव (Consciousness) इन पांचोंको परब्रह्म वासुदेवसे तत्त्वतः अभिन्न

गिनाया गया है. आधुनिक विज्ञानसम्मत देश काल द्रव्य और ऊर्जा के वर्गीकरणसे इस वर्गीकरणमें कुछ तारतम्य दिखलायी देता है; परन्तु, जो थोड़ी गम्भीरताके साथ अवलोकन करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि भागवतकारके मतके अनुसार द्रव्य और देश अलग-अलग पदार्थ नहीं क्योंकि इन्हें अतिरिक्त माननेमें एक द्रव्य और दूसरा उसका अभाव ऐसा आकाश ऐसा द्वैतवादी पूर्वाग्रह काम कर रहा है. भागवतकार और गीताकार दोनोंके अनुसार द्रव्यात्मिका प्रकृतिमें पृथ्वी जल तेज वायु आकाश मन बुद्धि अहंकार परिगणित हैं. यहां आकाशके रूपमें देश (Space) का समावेश कर लिया गया है. अतः अपने दर्शनकी परिभाषामें जिसे 'द्रव्य' कहा गया है वह आधुनिक विज्ञानसम्मत Matter और Space दोनोंका संग्राहक है.

विज्ञानसम्मत एनर्जि या ऊर्जा के स्थानपर भागवतोक्त 'कर्म (Kinetic Energy) और 'स्वभाव (Static Energy) को ऊर्जा*के रूपमें गिना जा सकता है.

काल (Time) तो विज्ञान और भागवत दोनों सूचिओंमें आनेवाला समान पदार्थ है.

जहां तक जीवके अस्तित्वकी समस्या है इस बाबतमें आधुनिक विज्ञान अभी तक मौनसेवन करता है. एतावता कितने ही अधीर विचारक इसका अर्थ ऐसा निकाल लेते हैं कि चेतनाको अतिरिक्त पदार्थ मानना अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है. उसकी पृष्ठभूमिमें रहे, परन्तु, रोचक ऐतिहासिक तथ्योंपर ध्यान देना आवश्यक लगता है.

अभारतीय धर्मोंमें आत्मा (Soul) का अस्तित्व केवल मनुष्यरूप प्राणीमें ही स्वीकारा गया है. वनस्पति वृक्ष कीट सर्प मत्स्य कच्छप पशु पक्षी जैसे प्राणिओमें नहीं. इस भेदके वे सात हेतु गिनाते हैं कि जिन हेतुओंके आधारपर मनुष्यकी परिभाषा ही अलग घड़ी

*लेखोत्तरटिप्पणी : यहां यह अवधेय हो जाता है कि स्टीफेन् हॉकिंग् परिगणनासौविध्यके हेतु चार तरहकी [१]गुरुत्वाकर्षिका ऊर्जा [२]विद्युच्चुम्बकीय ऊर्जा [३]मन्द नाभिकीय ऊर्जा और [४]प्रबल नाभिकीय ऊर्जाओंकी जो उत्प्रेक्षा करते हैं वह अधिक जटिल तथा गहन विश्लेषण पर आधृत है. उनका, परन्तु, यथाकथञ्चित् अन्तर्भाव इन्हीं दो, नाम्ना, कर्म और स्वभाव रूपी सामान्य ऊर्जामें सोच लेना भागवतीय दृष्टिकोणके बोधार्थ उपयुक्त होगा.गो.श्या.म.

गयी है :

(१) केवल मनुष्य ही तर्कशक्तिशील प्राणी है.

Only man is descursive animal.

(२)केवल मनुष्य ही यन्त्रशक्तिवान् प्राणी है.

Only man is technological animal.

(३)केवल मनुष्य ही राजनैतिक प्राणी है.

Only man is political animal.

(४)केवल मनुष्य ही सांस्कृतिक प्राणी है.

Only man is cultural animal.

(५)केवल मनुष्य ही धार्मिक प्राणी है.

Only man is religious animal.

(६)केवल मनुष्य ही नीतिमान प्राणी है.

Only man is ethical animal.

(७)केवल मनुष्य ही सौंदर्यानुभूतिशील प्राणी है.

Only man is esthetic animal.

मनुष्याकार प्राणीकी इस विशिष्टता उसके देहमें रही आत्माके कारण है, ऐसा यहुदी-ईसाई-इस्लिम धर्मोंका कहना है. आधुनिक विज्ञानने परन्तु ऐसी धारणाको अब निरस्त कर दिया है. यह विशिष्टता स्थूल रूपमें मनुष्याकार प्राणीमें उपलब्ध होनेपर भी सूक्ष्म रूपमें मनुष्येतर प्राणिओंमें भी होती ही है. तदुपरांत आज तो अनन्त ब्रह्माण्डमें हजारों न सही पर सेंकड़ों ग्रहलोक ऐसे हो सकते हैं कि जिन लोकोंमें पृथ्वीकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान अथवा पृथ्वीके समान बुद्धिमान प्राणी

विकसित हुवे होंगे. अतः इस विशिष्टतापर मनुष्याकार प्राणीका एकाधिकारकी धारणाको आज सर्वथा अवैज्ञानिक माना जाता है. मनुष्याकार प्राणीमें यह विशिष्टता लाखों वर्षोंकी विकासशृंखलाकी एक कड़ी मात्र है. विकासवादी सिद्धान्तके अनुसार मानवीय शरीरकी संरचनामें और मानवेतर प्राणिओंकी शरीरकी संरचनामें किसी भी तरहका ऐसा तारतम्य सिद्ध नहीं होता.

भवनोपम सचेतन शरीरकी संरचनामें ईंटोंकी तरह वापरे गये प्रोटीन और *न्युक्लीइक् एसीड्* विज्ञानकी प्रयोगशालामें पैदा किये जा सकते हैं. आजसे करोड़ों वर्ष पूर्व सरल एककोषीय अणुका विकास जिस प्रक्रियाके वश हुवा उसका कृत्रिम पुनरावर्तन करके विज्ञानकी प्रयोगशालामें आज उनका निर्माण संभव है. *हाइड्रोजन्* पानी *एमोनिया मिथेन* और *हाइड्रोजन् सल्फाइड्* के घोलमें से *अल्ट्रावायोलेट्* किरणोंको पसारनेपर यह चमत्कार सिद्ध किया जा सकता है.

यद्यपि ईंट बनानेवाले मज़दूरको भवननिर्माणका तकनीकी कौशल न भी प्राप्त हो, उसी तरह इस *प्रोटीन्* और *न्यूक्लीइक् एसिड्* के निर्माताको अभी तक मानवीय शारीरिक संरचनाकी तकनीक प्राप्त न हुयी हो वह तो स्पष्ट बात है. फिरभी जो कुछ रहस्यरूप रह गया है वह इन ईंटोंसे भवनसंरचनाके कौशलसे सम्बन्धित कारीगरीकी बात है, भवन स्वयं किन तत्त्वोंसे बना है उस बारेमें नहीं !

इन ईंटोंकी जटिल संरचनामें लाखों नहीं बल्कि करोड़ों वर्ष लगे हैं. इतनी लंबी अवधिमें जटिलसे जटिलतर और जटिलतम बनती ऐसी संरचनाको दो या दस वर्षोंमें विकसित कर दिखाना शक्य नहीं; परन्तु, एतावता इस मानवदेहकी जटिलतम संरचनामें प्रयुक्त ईंटोंकी पहचानको कोई कैसे झुठला सकता है? अमेरिकाके महान् वैज्ञानिक कार्ल् सेगान् कहते हैं कि विकासका सिद्धान्त अब वाद होनेकी कक्षासे आगे बढ़ कर तथ्यके सिंहासनपर आसीन हो गया है ""Evolution is fact, not a theory.'' (Cosmos p.27) इसका स्पष्ट प्रमाण आज देखा सकता है कि मानवनिर्मित कम्प्युटर् मानवकी बुद्धिसे अधिक प्रभावशाली रीतिसे तर्क करनेमें सक्षम बनता जा रहा है ! एतावता कम्प्युटर्में आत्माके अस्तित्वकी कल्पना की नहीं जा सकती. इतिहास गवाही देता है कि तर्कशक्ति, यन्त्रविज्ञान, राजनीति, संस्कृति, धर्म, नीति या

सौंदर्यानुभूति आदि गुण पृथ्वीके प्रत्येक प्रदेशमें, प्रत्येक कालमें, प्रत्येक मानव-समुदायमें एक जैसे, एक ही अनुपातमें विकसित हुवे हों ऐसा दृष्टिगत नहीं होता. तब क्या ऐसे मान लेना कि देहमें रही आत्माका परिमाण अलग-अलग होंगे ?

ऐसे युक्तिवादोंसे केवल मनुष्याकारवाले प्राणीके देहमें विद्यमान रहनेवाली पाश्चात्य धर्मसम्मत आत्माके स्वरूप या अस्तित्व का खण्डन होता माना जा सकता है. हमारे यहां तो इस बारेमें सर्वथा विलक्षण विचारसरणी ही थी. हमारी आत्मविषयक विचारसरणीका खण्डन विज्ञानने अभी तक तो किया नहीं है; और न भविष्यमें कर पायेगा ऐसी सम्भावना ही प्रबल लगती है.

हमारे धर्ममें आत्माके अस्तित्वके लिंग अपनी तर्कशक्ति, तन्त्रशक्ति, राजनीति, संस्कृति, धर्म, नीति या सौंदर्यानुभूति के आधारपर निर्धारित नहीं किये गये हैं, क्योंकि ये सारी शक्ति देहसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं. हमारे यहां आत्मचेतनामें मन बुद्धि अहंकार चित्त प्राण ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय आदि प्रत्येक सामर्थ्यको बाह्यारोपित माना गया है. उदाहरणतया जैसे विद्युत् (Electricity) में शब्द या ध्वनि को अभिव्यक्त या ग्रहण करने की स्वयंकी सामर्थ्य न होनेपर भी स्पीकर या माइक रूपी साधनोंसे वह औपाधिक सामर्थ्य आ पाती है, उसी तरह चेतनमें भी शब्दोच्चारणकी सामर्थ्य या शब्दश्रवणकी सामर्थ्य अपनी नहीं होती परन्तु वागिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय की उपाधिओंके वश चेतना शब्दोच्चारण या शब्दग्रहण के हेतु समर्थ बन जाती है.

सारे देहको पहले एक घड़ियालकी तरह बना कर बादमें जैसे बेटरी या सेल रखे जानेपर वह चलने लगती है अथवा टेपरेकॉर्डर्में बेटरी रखनेसे जैसे वह बजने लगता है वैसे देहमें आत्मा रखनेपर वह चलने लग जाता हो ऐसा अपने उपनिषदोंमें माना नहीं गया है. देहमें आत्माके आगमनका एक यज्ञके रूपमें बहोत रोचक वर्णन उपनिषद्में दिया गया है :

''१.यह लोक एक अग्नि है, उसमें सूर्य समिधा जैसा होता है. सूर्यकी किरणें उस समिधामेंसे निकलते धुंएकी जैसी हैं. दिनका प्रकाश उस अग्निकी चमक है. चन्द्रमाका प्रकाश उस अग्निके अंगारे जैसा

है, नक्षत्र उसके चिनगारीके जैसे होते हैं. इस अग्निमें देवता पानीकी आहुति देते हैं इसके कारण सोम तत्त्वकी उत्पत्ति होती है.

२.उस सोमकी आहुति मेघ रूपी अग्निमें दी जाती है. वायु मेघकी समिधा जैसी होती है, बद्दल धूमकी तरह होते हैं. चमकती बिजली इस धूमरूपी अग्निकी ज्वाला हैं. नीचे गिरती बिजली उस अग्निके अंगारे जैसी होती है. मेघगर्जना इस मेघरूपी अग्निकी चिनगारी जैसे होते हैं. इसमें सोमकी आहुति देनेसे वर्षा उत्पन्न होती है.

३.इस वर्षाकी आहुति पृथ्वीरूपी अग्निमें दी जाती है. उस पृथ्वीरूपी अग्निकी समिधाके जैसा एक संवत्सर होता है. इस पृथ्वीरूपी अग्निका धुंआ इस आकाशको समझ लो, रात्रि उसकी ज्वाला है, दिशायें अंगारोंकी जैसी होती हैं. इस पृथ्वीरूपी अग्निमें वर्षाकी आहुति देनेसे अन्न उत्पन्न होता है.

४.अन्नकी आहुति पुरुषरूपी अग्निमें दी जाती है. पुरुषरूप अग्निकी समिधा वाणी है, प्राण धुआं है, जीभ पुरुषरूपी अग्निकी ज्वाला है, उसके नेत्र अंगारे हैं. श्रवणेन्द्रिय चिनगारी. इस पुरुषरूपी अग्निमें अन्नकी आहुति देनेसे वीर्य उत्पन्न होता है.

५.वीर्यकी आहुति स्त्रीरूपी अग्निमें दी जाती है. स्त्रीरूपी अग्निमें जननेन्द्रिय (उपस्थ) समिधा जैसी होती है, शृंगारिक संकेत धुंए जैसे होते हैं. योनि ज्वाला जैसी होती है, सम्भोग अंगारोंके जैसे होते हैं, इसमें मिलता सुख चिनगारी जैसा होता है. इस स्त्रीरूपी अग्निमें वीर्यकी आहुति देनेसे अर्थात् पांचमी आहुतिके कारण मूल जलतत्त्व पुरुषाकारतया प्रकट होता है.

वह पुरुष गर्भमें दसेक मास रह कर बाहर आता है. बादमें अपनी आयुष्यके अनुरूप जीता है. मरनेके बाद वह जिन-जिन पांच अग्निओमेंसे पसार हो कर आया उन्हींमें से पसार हो कर पुनः लौट जाता है.''

(छान्दो.उप.५।३-९)

हम देख सकते हैं कि हमारा आत्मा पानी बरखा अन्न वीर्य और गर्भ ऐसी अनेक अनेक अवस्थाओमेंसे पसार हो कर जनमता है. अतः आधुनिक

विज्ञानकी प्रयोगशालामें हाईड्रोजन् पानी एमोनिया मिथेन और हाइड्रोजन् सल्फाईड् के घोलमें अल्ट्रावायोलेट्की किरणोंको पसार करवानेसे चेतना सूक्ष्म रूपमें प्रकट हो जाती हो तो हो जाये ! उपनिषद्की प्रक्रियाका इसमें प्रत्याख्यान कहाँ हुवा ? इस चेतनामें तर्कशक्ति तन्त्रशक्ति राजनीति संस्कृति धर्म नीति या सौंदर्यानुभूति की सामर्थ्य न हो तो हमें इसमें आपत्तिजनक कुछ भी लगना तो नहीं चाहिये. अथवा तो मानवनिर्मित कम्प्युटर्में मानवसे अधिक बौद्धिक सामर्थ्य तर्कशक्ति खिला कर संगणक वैज्ञानिक दिखलाते हों तो उस कम्प्युटर्में आत्माके अस्तित्वको स्वीकारनेकी बाध्यता आवश्यक हमे नहीं लगनी चाहिये. क्योंकि आत्माके ऐसे स्थूल लक्षण हमने कभी घड़े ही न थे.

आधुनिक विज्ञानकी विविध शाखा (Soul) को खतम कर देनेका बौद्धिक उद्यम है. पर आत्मा तो अजर-अमर है और रहेगी. विज्ञानकी प्रयोगशालामें प्रोटीन् या न्युक्लीइक् एसिड् के अणुके निर्माणसे हमारी आत्माका प्रतिस्पर्धी जीवाणु पैदा नहीं होता है. वह तो शुद्ध चेतनारूप है और सर्वत्र विद्यमान है. वह तो पानीमें बद्दलोंमें बरसादमें अन्नमें और प्रत्येक प्राणीमें वनस्पति वृक्ष कीट सर्प मत्स्य कच्छप पशु पक्षी या मनुष्य सर्वत्र विद्यमान है. वह तो कहीं भी प्रकट हो सकती है. *हाईड्रोज़न्* आदि तत्त्वोंके द्रवोंको *स्टरलाईज़्* कर देनेसे जीवाणु मर जाते होंगे; परन्तु, जीवात्मा मरता नहीं. भगवद्गीतामें कहा गया है : **''अछेद्यो अयम् अदाह्यो अयम् अक्लेद्यो अयम् अशोष्यएव च नित्यः सर्वगतः''** (भग.गीता.२।२४) जीवात्माको किसी पार्थिव हथियारसे काटा नहीं जा सकता, आग्नेय उपकरणसे जलाया नहीं जा सकता है, न जलीय उपायोंसे भिंजाया और वायवीय उपायोंसे सुखाया ही जा सकता है. वह तो नित्य और सर्वगत है, सर्वत्र विद्यमान है.

जो नित्य है वह न तो मर सकता है और न जनम सकता है, फिरभी कभी वह प्रकट हो सकता है तो कभी तिरोहित भी हो सकता है. अतएव विज्ञानकी प्रयोगशालामें भी वह चेतना प्रकट हो तो कोई अनहोनी नहीं हो जाती. गर्भमेंसे बालक प्रकट होता ही तो है, नूतन पदार्थके रूपमें पैदा थोड़ी होता है.

मनुष्यकी तर्कशक्ति या नीतिमत्ता आदि गुणोंका जैसा स्वरूप आजके मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, नृतत्त्वविज्ञान, शरीरविज्ञान, रसायनविज्ञान, भौतिकविज्ञान या ज्योतिर्विज्ञान के आधारपर सिद्ध हो रहा है, वह स्वयं इसकी गवाही देते हैं कि जड़ और चेतन के बीच अतिद्वैत या अति-अद्वैत का इस सृष्टिमें कहीं भी स्थान नहीं है, केवल एक एक हठवादी दार्शनिककी बुद्धिके स्थानके अपवादको छोड़ कर !

उपनिषदोंकी रसदृष्टिकी यह महत्ता है कि आत्मचेतना समष्टिरूपेण सर्वव्यापी और व्यष्टिरूपेण परमाणुरूप विरोधी धर्मोंसे युक्त मानी गयी है. आधुनिक विज्ञान जैसे प्रकाशको किरण और तरंग यों उभयरूपेण स्वीकारता है. उसी तरह भगवान्ने गीतामें आत्मचेतनामें रहे इस तरहके दोनों गुणोंको स्वीकारा है :

''नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलो अयं सनातनः।''
''ममैव अंशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।''
शरीरं यद् अवाप्नोति यच्चापि उत्क्रामति ईश्वरः।
गृहीत्वा एतानि संयाति वायुः गन्धानिव आशयात्।।''

(भग.गीता.२।३९,१५।७-८)

अर्थात् जीवात्मा समष्टिरूपेण सर्वव्यापी है परन्तु व्यष्टिरूपेण अणुपरिणाम है. समष्टिरूपेण वह अचल है, जबकि व्यष्टिरूपेण एक देहमेंसे, एक लोकमेंसे दूसरे देहमें अथवा दूसरे लोकमें संचार भी कर सकती है. जैसे सर्वत्र व्याप्त वायु अपने इस व्यापक रूपमें पुष्पके पराग या सुगन्ध का एक स्थानसे दूसरे स्थानपर वहन नहीं कर पाती परन्तु जब उसमें कोई झोंका या लहर उठे तो वह पुष्पकी सुगन्धकी वाहिका बन पाती है. अतएव उपनिषद् परमात्माको व्यष्टिरूपेण अणु जीवात्माकी तुलनामें अणीयान् परमाणुरूप गिनाता है. और समष्टिरूप सर्वव्यापी महान् चैतन्य की तुलनामें अधिक महीयान् महाव्यापी गिनाता है. ब्रह्म अपनी जीवात्माकी भीतर रहा अन्तर्यामी परमात्मा है. प्रकृतिमां व्याप रहा है और पुरुष की तुलनामें महान् पुरुषोत्तम है.

काल कर्म स्वभाव द्रव्य और जीव के पञ्चविध रूप एक ही ब्रह्मकी द्विविध प्रकृति हैं : १.अपरा प्रकृति २.परा प्रकृति :

''भूमिः आपो अनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा।।
अपरा इयम् इतस्तु अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो यया इदं धार्यते जगत्।।''

(भग.गीता.७।४-५)

एक ही परमात्मामें अपरा प्रकृतिके विविध रूप और परा प्रकृतिके विविध रूपों के द्वैतोंकी सूक्ष्म सम्भावनायें भरी रहती हैं, जैसे एक ही बीजमें किसी वृक्षके विविध वर्ण आकृति गन्ध और स्वाद वाले पत्र, पुष्प और फलों के द्वैतकी सूक्ष्म संभावनायें विद्यमान रहती हैं. अतएव भागवतमें कहे **''द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीव एव च''** (भाग.पुरा.२।५।१४) ये कुछ भी वासुदेव परमात्माकी तत्त्वदृष्टिसे देखें तो भिन्न नहीं होते परन्तु फिरभी रूपदृष्टिसे भिन्न दिखलायी देते हैं; क्योंकि स्वयं ब्रह्म ही इन अनेकविध रूपोंको धारण कर जगदात्मना प्रकट हुवा है **''तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत''** (तैत्ति.उप.२।७). अतः ये विविध रूप उसी परमात्माकी सुकृति=सुन्दर कृति है **''तस्मात् तत्सुकृतम् उच्यते इति''** (तैत्ति.उप.२।७). यहां जो कुछ अभिव्यक्त हुवा है वह उस परमात्माकी सुकृति ही है **''यद् वै तत् सुकृतम्''** (तैत्ति.उप.२।७) क्योंकि परमात्मा रसरूप है अतः उसकी प्रत्येक कृतिमें एक विशिष्ट रस अभिव्यक्त होता है **''रसो वै सः!''** (तैत्ति.उप.२।७). इस रसको जाने बिना इस सृष्टिमें आनन्द मिलनेवाला नहीं **''रसं हि एव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति''** (तैत्ति.उप.२।७). इस सृष्टिमें प्रत्येक प्राणीमें रहनेवाली जीजीविषा जीवन जीनेकी अदम्य लालसा जो दिखलायी देती है वह इस बातकी गवाही देती है कि आकाशमें भरे वायुमेंसे जब हम एक श्वास अंदर लेते हैं तब हम उस आनन्दकी अव्यक्त रसानुभूति करते होते हैं. अन्यथा कोई निरर्थक सांस क्यों लेना चाहता ? **''कोह्येव अन्यात् कः प्राण्यात्**

यदेष आकाशे आनन्दो न स्यात् ?'' (तैत्ति.उप.२।७). वह ब्रह्म ही सचमुचमें सब प्राणिओंको आनन्दित रखता है **''एष ह्येव आनन्दयाति''** (तैत्ति.उप.२।७).

यह थी हमारी अपने उपनिषदोंकी रसदृष्टि. विज्ञानने इस रसदृष्टिका खण्डन किया नहीं है और कर भी नहीं पायेगा ! विज्ञानके विकासके साथ इस रसदृष्टिका मण्डन होनेवाला है. यदि कभी विज्ञान इस रसदृष्टिका खण्डन करनेका साहस करेगा तो वह विज्ञान तब मानवीय बुद्धिको सुहाते सांचेमें स्थूलको ढालनेके उद्यमसे विरत हो कर इस सृष्टिमें केवल विनाशकारी साधनोंकी खोजमें जुटानेकी प्रक्रियामें विकृत बन जायेगा.

अतः हमारे दर्शनमें रही रसदृष्टिको पाये बिना जो हम विज्ञानके आविष्कारोंकी चकाचोंधमें अंधे बन जायेंगे तो हमे अपने स्वयंके विनाशके साधनोंको ही विज्ञानके नामपर जुटानेको बाधित होना पड़ेगा. आवश्यकता तो यही है कि जैसे हमारे दर्शनने धर्मद्वारा रसदृष्टि पायी वैसे ही विज्ञानको भी उस रसदृष्टिका उत्तराधिकार हमारे दर्शनोंके द्वारा पाना उचित होगा. अतः अब हम विज्ञानके क्षेत्रमें रसदृष्टिके महत्त्व और स्वरूपको पहचाननेका प्रयास करेंगे.

::विज्ञानमें हमारी रसदृष्टि::

'ज्ञान' सामान्यज्ञानका वाचक शब्द है. 'ज्ञान' शब्दके आगे 'वि' उपसर्ग जोड़नेसे 'विज्ञान' शब्द बनता है. 'वि'उपसर्गका अर्थ है विशिष्टता. विशिष्ट ज्ञान यानि विज्ञान.

विज्ञानके विषय स्थूल हों या सूक्ष्म, वे सभी होते हैं विशिष्ट विषय. उन-उन विषयोंकी विशिष्टता उन-उन विषयोंके श्रेष्ठत्व या अधिक प्रामाणिक होनेके अभिप्रायवश कही नहीं जा रही. एक सच्चे वैज्ञानिकका मानस इतना आग्रहरहित होना ही चाहिये कि उसने स्वयं किये हुवे निरीक्षण या परीक्षण के आधरपर जो कुछ सिद्ध होता हो वह सत्य है या असत्य, इसमें अपना सिर खपानेके बजाय स्वयं किये परीक्षण या निरीक्षण के निष्कर्षकी तटस्थ प्रस्तुति करे. एक वैज्ञानिकके

लिये यह प्रक्रिया अधिक वांछनीय होनी चाहिये. जिस मान्यताका परीक्षण या निरीक्षण शक्य न हो ऐसी मान्यतामें विश्वास रखनेके बावजूद वह अपनी मान्यताके वैज्ञानिक सिद्धान्त होनेका दावा कर नहीं सकता. किसी एक दिशामें किये गये निरीक्षण या परीक्षण का एक निष्कर्ष निकला हो परन्तु दूसरी दिशासे किये गये उसी विषयके निरीक्षण या परीक्षण करनेपर पूर्वनिर्धारित निष्कर्षसे दूसरा कोई विपरीत निष्कर्ष भी निकालनेपर स्वयंके निष्कर्षको त्रिकालाबाधित सत्य मान लेनेकी मनोवृत्ति एक सच्चे वैज्ञानिककी कभी हो नहीं सकती. अतः विशिष्ट ज्ञानका अर्थ इतना ही है कि कोई निश्चित एक रीतिसे किये गये निरीक्षण या परीक्षण द्वारा मिलता एक विशिष्ट निष्कर्षको 'विज्ञान' कहा जाता है.

स्थूलमें सूक्ष्मको जाननेको दार्शनिक विचारमन्थनसे जो सन्देह और प्रश्न मानवीय बुद्धिमें उभरते हैं, उन सन्देहों और प्रश्नों के समाधान वैज्ञानिक बुद्धिमन्थनद्वारा पानेका प्रयास विज्ञान है. प्रश्न दर्शन उपस्थापित करता है और उनके उत्तर विज्ञान देता है. अतएव दर्शन प्रश्नकर्ता तो विज्ञान उत्तरदाता हो सकता है. पर एकदूजेको सुने बिना जो दोनों अपना-अपना राग आलापने लगे तो मानवीय बुद्धिकी संसद्में संवाद और विवाद के बजाय एक निरा कोलाहल ही सुनायी देने लगेगा. दर्शन और विज्ञान के बीच विवाद छिड़ जानेपर कोई संवाद और उस संवादमें पुनः किसी प्रकारका विवाद चलता रहे इसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं होती; परन्तु, दोनोंके बीच असम्भाषणकी मनोवृत्ति होनी दोनोंके लिये हानिकारक हो सकती है. एकदूजेकी मर्यादाको जाने बिना या मान्य करे बिना बोलते रहनेकी मनोवृत्ति भी अवांछनीय होती है.

सत्यासत्यके सामान्य निष्कर्षको निकालनेसे पहले दर्शनको विज्ञानद्वारा किये गये विशेष विषयोंके निरीक्षण या परीक्षण के विशिष्ट निष्कर्षोंके तथ्य ध्यानमें रखने चाहिये. इसी तरह विज्ञानको भी अपने विशिष्ट निष्कर्षोंकी सफलतासे इतना अधिक फूलना नहीं चाहिये कि मनुष्यकी बुद्धिके सामने सामान्य प्रश्न क्या-कैसे उपस्थित हैं.

वैज्ञानिक निरीक्षण और परीक्षण में संश्लेषण और विश्लेषण की प्रक्रिया अपनानेके कारण कुछ जोड़-तोड़ चलती रहनी चाहिये. जिस एककका निरीक्षण या परीक्षण अभिप्रेत हो वह जो स्थूल समष्टि हो तो उसके घटक सूक्ष्म व्यष्टिओंका ज्ञान उस एककके विश्लेषण बिना शक्य नहीं होता. उसे तोड़ कर देखे बिना कोई चारा नहीं रह जाता है. इसी तरह जिस वैज्ञानिक निरीक्षण या परीक्षण की विषयीभूत एकक स्थूल व्यष्टि हो तो वह किस सूक्ष्म समष्टिका भाग या अंग है यह जाननेको उस एककका संश्लेषण भी करना ही पड़ता है. क्योंकि जब तक एककको अन्य किसी एककके साथ उसे जोड़ कर देखनेका कौशल न हो तो ज्ञान मिलेगा नहीं.

इससे सिद्ध होता है कि परीक्षण हो या निरीक्षण, विज्ञानमें विश्लेषणात्मक तर्कपद्धति और संश्लेषणात्मक तर्कपद्धति दोनोंकी ही महत्ता एक जैसी होती है.

उदाहरणतया मेडिकल् साइन्स्के विद्यार्थीको शरीररचनाका ज्ञान पानेको मेंढकका विच्छेदन (dissection) करना पड़ता है. कारण यही होता है कि शरीर एक ऐसा एकक है कि जिसे स्थूल समष्टि माना जा सकता है. शरीरके सूक्ष्म अंग-प्रत्यंग शरीरके भीतर होते हैं. अतः शरीरकी चीरफाड़ किये बिना उसकी भीतरी रचना जानी नहीं जा सकती है. युरेनियम्के अणुके विघटनके बिना आणविकी ऊर्जा मिल नहीं सकती. क्योंकि युरेनियमके अणु इलेक्ट्रॉन् न्युट्रॉन् और प्रोटॉन् के परमाणुओंकी समष्टि है.

मेडिकल् साइन्स्का विद्यार्थी जब किसी मेंढकके शरीरके विच्छेदन या विश्लेषण द्वारा उसके अङ्ग-प्रत्यंगोकी रचनाको समझनेका प्रयत्न करता हो तब उसका लक्ष्य इस तरहका ज्ञान पाकर अनेक रोगिओंके अंग-प्रत्यंगोंको निकाल कर अथवा उपचार कर के अथवा नये प्रत्यारोपण द्वारा उन्हें स्वस्थ बनानेका होना चाहिये. ऐसा हेतु न हो तो निरर्थक हिंसा क्रूर अपराध है. ट्रेन या मोटर के अकस्मात्में घायल लावारिस गरीबके ऊपर नौसिखुवे जुनियर डॉक्टर्स् कई मर्तबा सरकारी हस्पतालोंमें उसके शरीरकी चीरफाड़ करनेको टूट पड़ते हैं. ज्ञान पानेकी उनकी भूखको मिटानेको दूसरेके साथ बरती जाती ऐसी क्रूर छलना करनेकी मनोवृत्तिमें रसदृष्टिका सर्वथा ह्रास प्रकट हो जाता है. यद्यपि मेंढकके विच्छेदनमें

भी ऐसी ही क्रूरता रही है इसका अस्वीकार सम्भव नहीं. फिरभी रसनिष्पत्तिमें साधारणीकरणकी महत्ता कितनी अधिक है यह हम देख चुके हैं. एक मेंढक खुद कभी कितना भी भूखा क्यों न हो किसी दूसरे मेंढकको मार कर खा नहीं जाता. यद्यपि वह भी कीट-पतंगोंको तो खाता ही है. वह भूखा नहीं रहता. प्रकृतिमें एक मेंढकके भीतर दुसरे मेंढकके प्रति साधारणीकरणका बोध इतना तो स्वतःसिद्ध होता है; परन्तु, मनुष्य जातिके प्राणीने इस स्वतःसिद्ध बोधको स्वयंके कृत्रिम विज्ञानके वश आज दबा दिया है. अतः मनुष्य मनुष्य के बीच रहा साधारणीकरण खतम सा हो गया है. एकदूजेसे परिचित हो पानेके वैज्ञानिक साधनोंके प्रचुर विकास होनेके बावजूद नया कुछ जान लेनेकी भागदौड़में रसदृष्टिके कुचला जानेकी हकीकत इस अकस्मात्के रूपमें प्रकट हुयी है.

अपना दर्शन तो इस जगत्के कणकणके साथ रसदृष्टि विकसित करनेके प्रयोजनार्थ साधारणीकरणकी प्रेरणा देना चाहता है **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** (छान्दो.उप.३।१४।१). इस ब्रह्मदृष्टिको विकसित करना प्रारम्भिक दशामें शक्य न हो पानेके कारण अपना धर्म अनेकविध प्राणिओंको अनेकविध पूजनीय देवताओंके वाहन अथवा अन्य भी किसी प्रकारके सम्बन्धोपदेशद्वारा उनकी हिंसासे हमें विरत करना चाहता है. सिंह अम्बाका वाहन, बैल शिवका वाहन, मूषक गणपतिका वाहन, गरुड विष्णुका वाहन, सर्प महादेवके आभूषण, मयूरपिच्छ कृष्णका आभूषण आदि. देवपूजा अथवा वैसे प्रयोजन के बिना किसी भी वृक्षके पत्र या पुष्प को तोड़ने भी **''अल्पीयसी हिंसा''**(भाग.सुबो.३।२९।१५) मानी गयी है.

मनुष्येतर प्राणिओंमें आत्मा न होनेके कारण उनका भक्षण किया जा सकता है इसमें कोई क्रूरता या पाप नहीं, ऐसा विधान हमारे धर्मोंमें नहीं. प्रत्येक प्राणीमें आत्मा होती है, अतः किसी भी प्राणीकी हिंसा मूलमें है तो पाप ही. वैसे साथ ही साथ यह भी तथ्य अवधेय है कि प्राणधारण करनेवाले जीवनकी संरचनामें ही अन्योन्यनिर्भर भक्ष्य-भक्षकभाव एक अपरिहार्य नियतिके रूपमें कार्यान्वित हुवा है. फिरभी ब्रह्मदृष्टिवश भक्ष्य और भक्षक के बीच रहे अद्वैतको कदापि भूलना नहीं चाहिये : **''अहस्तानि सहस्तानां अपदानि चतुष्पदां फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनं, तदिदं भगवान् राजन् एक आत्मा आत्मनां स्वदृक् अन्तरो**

अनन्तरो भाति पश्य तं मायया उरुधाम्'' (भाग.पुरा.१।१४।४६-४७). अतएव तैत्तिरीयोपनिषद्में भी अन्न और अन्नाद में ब्रह्मदृष्टि या अभेददृष्टि का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है : **''अधीहि भगवो ब्रह्म इति...अन्नं प्राणं... इति. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति... तद् ब्रह्म इति. अन्नं ब्रह्म इति व्यजानात्. अन्नाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते... प्राणो अन्नं शरीरम् अनन्नादम्... आपो वा अन्नम् ज्योतिः अन्नादम्... पृथिवी वा अन्नम् आकाशो अन्नादः... तदेतद् अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम्... अहम् अन्नम्, अन्नम् अदन्तम्, माम् अद्मि''** (तैत्ति.उप.३।१-६). तत्त्वयाथार्थ्यके बारेमें उपनिषदादि शास्त्रोंकी यह एक विलक्षण कालातिगामिनी दृष्टि है कि यह सृष्टि चक्रवत् आवर्तित होती रहती है. जिसमें मूलतत्त्व अपने-आपको उत्पन्न पालित और संहृत करता रहता है. अतः महाप्रलयको महामुत्यु अथवा महाकालकवलन के रूपमें भी देखा गया है और नवसृजनको पुनः आत्मवत्ताके प्रकटीकरणके रूपमें : **''नैव इह किञ्चन अग्रे आसीद् मृत्युनैव इदम् आवृतम् आसीत्. अशनायया, अशनाया हि मृत्युः, तद् मनो अकुरुत 'आत्मन्वी स्याम्' इति''** (बृह.उप.१।२।१).

अतः जैसे आत्मैक्यमें अरतिवश रमणार्थ द्वितीयकामना एक पारमात्मिकी आत्मानन्दकी दृष्टि है वैसी ही दूसरी दृष्टि 'अशनाया'=मृत्युको भी जीवनकी संरचनाके मूलमन्त्रमें निहारनेकी दृष्टि है. फिरभी वह अशनाया, क्योंकि प्रकट हुयी है, अशनातीत आत्मैक्यमें ही अतः, हिंसाका अतिरेक अथवा आत्यन्तिकी अहिंसा दोनों जीवनविरोधी दृष्टिकोण हैं. अतएव जो स्मृतिकार कहते हैं **'''न मांसभक्षणे दोषो न निद्रायां न मैथुने प्रवृत्तिः एषा भूतानाम्''** (मनुस्मृ.५।५६) कहते हैं वही ऐसा भी कहते हैं **''स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुम् इच्छति अनभ्यर्च्य पितॄन् देवान् ततो अन्यो नास्ति अपुण्यकृत्... मां स खादयिता अमुत्र यस्य मांसम् इह अद्मि अहम् एतद् मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः''** (मनुस्मृ.५।५२,५५). सर्वप्रथम स्मृतिकार यह कहते हैं कि जैसे निद्रा या मैथुन जैसे देहनिर्वाहार्थ स्वाभाविक हैं, वैसे ही, मांसभक्षण भी स्वाभाविक है, अतः मांसभक्षणमें दोष नहीं. वही स्मृतिकार दूसरे वचनमें यह भी कहना भूलते नहीं हैं कि पितृ-देवार्चनके प्रयोजनके बिना केवल अपने मांसके अभिवर्धनार्थ अथवा जिह्वालौल्यवश जिसका मांस आज तुम खा रहे हो आनेवाले कालमें तुम्हारा

मांस खायेगा. 'मां'-मुझे + 'स'-वह खायेगा अतः मांसको 'मांस' कहा जाता है. दूसरे प्राणीको अपना खुराक बनानेमें प्रकट होते भयंकर रसके साधारणीकरणका ही यह उपदेश है. दूसरेकी भयंकरता जैसे हमारे जीवनको करुण बना देती है, ऐसे ही, हमारी भयंकरता दूसरोंके लिये भी करुण घटना ही होगी.

कर्मशृंखलाकी कड़ीके रूपमें मानवेतर प्राणिओंके रूपमें मानवदेहमें जनमनेवाला जीवात्मा प्रकट हो सकता है ऐसा कह कर अपना धर्म सभी प्राणिओंके बारेमें हमारे भीतर साधारणीकरणके भाव जगाना चाहता है. उसी तरह, आधुनिक विज्ञान उस कर्ममूलक चौरासी लाख योनिके चक्रकी जगह डार्विनके विकासवादी सिद्धान्तके आधारपर विकास-शृंखलाकी एक कड़ीके रूपमें मानव और मानवेतर प्राणिओं के बीच साधारणीकरणके प्रयोजनको सिद्ध कर सकता था...

प्रोटोप्लाज़्म या अमीबा से ले कर मनुष्याकार शरीरकी जटिलतम संरचनामें एक सूक्ष्म समष्टिका अद्वैत-सम्बन्ध अवगत होनेपर ""Man is rational animal'' और ""Reason is the seat of soul'' में बहुप्रशस्त 'रेशनालिटी' और 'सोल' की दुविधा आज मर मिटी है. अब तो आधुनिक विज्ञानको भी 'नेचरल बेलेन्स'की महत्ता कुछ समझमें आने लगी है. पर हमारी धर्मदृष्टि जैसा सन्तुलन बनाये रखनेमें समर्थ थी, उस महत्ताको पुनः स्वीकार करनेमें थोड़ा समय वैज्ञानिक मनोवृत्तिको लगेगा ही. क्रमबद्ध विकासशृंखलामें जुड़नेवाली एक कड़ीसे अधिक अनुचित महत्त्वाकांक्षाके वश वानरमें आत्मा नहीं होती परन्तु स्वयंको एकमात्र बुद्धिमान मान लेनेकी भ्रमणाके वश जब नरमें आत्माका होना स्वीकार लेते हैं तब एक असाधारण भेददृष्टिकी भ्रान्तिसे वानर नहीं प्रत्युत नर ही दिग्भ्रान्त जाता है! अपनी तथाकथित बुद्धिमत्ताके कारण मानव या नर ने पर्यावरणको कितना प्रदूषित किया कि उसमें उसकी स्थूल बुद्धिमत्ताके भीतर भरी सूक्ष्म मूर्खता आज उघाड़ी पड़ गयी है! ऐसी मूर्खता न तो वानर न गधे और न उल्लु ही कर पाये! उनकी स्थूल बुद्धिरहितितामें एक स्वयंसञ्चालित सूक्ष्म बुद्धिमत्ता काम कर रही थी!

इस देहकी चीरफाड़ करनेवाले आधुनिक सर्जन=शल्यचिकित्सकको उस महान सर्जक द्वारा देहमें प्रतिष्ठापित आत्मा मिलती नहीं! अतः वैज्ञानिक चिन्तन अनात्मवादी होना चाहता है.

रशियाने जब अवकाशमें पहला स्पुतनिक यान उछाला तब उसमें सवार यात्रीको अवकाशमें कहीं भी परमेश्वर दिखलायी नहीं दिया, अतः आधुनिक ब्रह्माण्डविज्ञानके आधारपर कितने ही लोग अनीश्वरवादी विचारधाराको अभिनन्दित करना चाहते हैं.

अपनी मानवनिर्मित संसद्में अनेक तरहके छलकपटसे निर्वाचित मनुष्योंकी पार्टीके आदेशका अनुसरण करनेवाली मुण्डगणनाकी रीतिमें वैधानिक सच्चे-झूंठेका निर्धारण शक्य है अतः हमने मान लिया कि बिना वोट्के निर्धारित किये जानेवाले शास्त्रोंके आदेशोंद्वारा निर्धारित पापपुण्यके भेद खोटे ही होंगे. अतः सच्चे-खोटेके निर्णयमें आज बिनधार्मिक विचारसरणीके गुणगान अधिक गाये जाते हैं.

शास्त्रोंने इस सृष्टिको पाञ्चभौतिक - पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश - निर्मित मानी है. रसायनविज्ञानने जलके एक Molecule में H_2O के रूपमें हाइड्रोजन् और ऑक्सिजन् के परमाणु खोज निकाले. तब लोग शास्त्रकारोंको अज्ञानी मानने लगे! तबसे रसायनविज्ञानके वैज्ञानिक जगत्के मूल तत्त्वोंकी संख्या ८० परसे ९६ पर; और, ९६ परसे बढ़ाते-बढ़ाते १०९ से भी अधिक होने जा रही थी तब भौतिकविज्ञानने रसायनविज्ञानद्वारा प्रचारित भ्रान्ति निरस्त कर दी. तथाकथित मूल रासायनिक तत्त्वोंका ""$(p+n)e$'' के रूपमें प्रोटोन् न्युट्रोन् और इलेक्ट्रोन् परमाणुओमें विभाजन या विश्लेषण शक्य बन गया! एतावता क्या हाइड्रोजन्की वास्तविकताको नकारा जा सकता है? नहीं. तब जो कितने उत्साही शास्त्रोंमें श्रद्धारहित लोग कहने लगे कि पाञ्चभौतिक तत्त्व जैसा कुछ भी होता नहीं है, इसे तो ऐसा युक्तिवाद कहा जा सकता है कि मानों किसी चित्रकलाका विश्लेषण उसके रंगों और चित्रपट में सम्भव होनेसे हम चित्र जैसी वास्तविकताको ही नकारने लग जायें!

एक अणुरूप एकका कुछ परमाणुओंमें विश्लेषण हो सकता होनेसे यदि उस अणुका स्वरूप अवास्तविक हो जाता हो तो जिसे हमने परमाणु माना है उसका भी उसकी अपेक्षा सूक्ष्मतम परमपरमाणुओंमें विभाजन शक्य हो ही सकता है. मनोविज्ञानका गेस्टाल्ट नामक सिद्धान्त है कि एक वर्गाकृतिका चार रेखाओंमें विभाजन हो सकता होनेसे वर्गाकृति अवास्तविक नहीं बन जाती है. क्योंकि उन रेखाओंका भी पुनः बिन्दुओंमें विभाजन शक्य होता ही है. जैसे किसी पुस्तकका उसके पृष्ठोंमें, पृष्ठोंका अनुच्छेदोंमें, अनुच्छेदोंका पंक्तिओंमें, पंक्तिओंका वाक्योंमें, वाक्योंका शब्दोंमें, शब्दोंका अक्षरोंमें और अक्षरोंका स्वर और व्यंजनों के संकेतोंमें विभाजन कर देने या उन स्वरसंकेतों या व्यंजनसंकेतों का भी पुनः स्याहीके बिन्दुओंमें विभाजन शक्य होनेसे, इसी तरह स्याहीका भी पुनः रासायनिक विश्लेषण करना हो तो वह भी शक्य होता ही है. ऐसे विश्लेषणोंके कारण क्या किसी ग्रन्थको अवास्तविक माना जा सकता है क्या! ऐसे ही, सर्जन् अर्थात् शल्यचिकित्सकद्वारा किये गये शारीरिक विश्लेषणके आधारपर आत्माको अवास्तविक मान लेनेसे अधिक विचारशून्यता और क्या हो सकती है? ब्रह्माण्डविज्ञानके विश्लेषणसे, अतएव, ब्रह्म भी अवास्तविक हो नहीं जाता है. ब्रह्माण्डविज्ञानकी जो सूक्ष्म समष्टि है, उसे भगवद्गीता और भागवतपुराण में 'अक्षरब्रह्म' कहा गया है :

''क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो अक्षरम् उच्यते.''
''आण्डकोशो बहिर् अयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः।।
दशोत्तराधिको यत्र प्रविष्टः परमाणुवत्।।
लक्ष्यते अन्तर्गताश्च अन्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः।
तद् आहुर् 'अक्षरं ब्रह्म' सर्वकारणकारणम्।।''

(भग.गीता.१५।१६, भाग.पुरा.३।११।३९).

एक अक्षरब्रह्ममें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड माने गये हैं, जिनका विश्लेषण ब्रह्माण्ड-विज्ञान (Galactical Science) में भविष्यमें विकसित होगा. उन प्रत्येक ब्रह्माण्डोंमें, पुनः आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान (Astronomy) के अनुसार, पुनः अरबों-खरबों तारे होते हैं. जैसे एक ब्रह्माण्ड अक्षरब्रह्ममें परमाणु

जितनी बिसात रखता है, वैसे ही किसी भी एक ब्रह्माण्डमें हमारे सूर्य जैसे विशाल तारापिण्डोंकी भी नन्हें परमाणुसे अधिक बिसात नहीं होती. ज्योतिर्विज्ञान या खगोलविज्ञान में एक ब्रह्माण्डका विश्लेषण उसके घटक अनेक अणूपम तारोंमें किया जाता होनेसे ब्रह्माण्ड अवास्तविक नहीं बन जाता. ऐसे ही एक विशाल तारेके अनेक ग्रह होते हैं. अपने ही सूर्यके इर्दगिर्द बुध शुक्र पृथ्वी मंगल गुरु शनि युरेनस नेप्च्युन और प्लुटो जैसे ग्रह चक्कर काटते रहते हैं. यों खगोलविज्ञानका विषय तारों और उनके ग्रहोंमें, ग्रहविज्ञानमें (Solar Astronomy) विश्लेषण कर दिखाया जाता है. इन ग्रहोंमें से किसी भी एक ग्रहके वैविध्यको जानना हो तो उस ग्रहके भूविज्ञानमें (त्रय्शेश्रेसू) विश्लेषण सम्भव है.

पर उस ग्रहपर यदि जीवन टिकाये रखनेवाला पर्यावरण मौजूद हो तो उस ग्रहका भी पुनः जड़ और जीव में पृथक्करण हो सकता है. जीवविज्ञान (Biology) के विविध शास्त्रीय विभागों जैसे कि वनस्पतिविज्ञान (Botany), प्राणिविज्ञान (Zoology), नृतत्त्वविज्ञान (Anthropology), शरीरविज्ञान (Physiology) आदिमें सजीव वस्तुकी विवेचना सम्भव है. इसी तरह जड़वस्तुके विज्ञानके विविध शास्त्रीय विभाग जैसे कि रसायनविज्ञान (Chemistry), भौतिकविज्ञान (Physics), यन्त्रविज्ञान (Engineering Technology) में निर्जीव जड़वस्तुके स्वरूप और नियमों की विवेचना भी हो पाती है.

अब कोई कल्पनावादी (Idealist) विचारक सजीव वस्तुमें व्यक्त होती चेतनाकी पूँछ पकड़ कर जड़वस्तुको भ्रान्तिकल्पित, मायिक या चशपींरश्र Construct मान कर बैठ जाये, तो वैसा दृष्टिकोण एकांगी ही कहा जायेगा. ऐसे ही कोईक भौतिकवादी (Materialist) विचारक भी भौतिक द्रव्य (Matter)की पूंछ पकड़ कर आत्मा (Mind)की वास्तविकताका भौतिक विश्लेषण द्वारा अस्वीकार करे अथवा उसे अन्धश्रद्धा माने तो वह भी एकांगी दृष्टिकोण है. क्योंकि चेतनाके छोरसे देखनेपर प्रत्येक भौतिक वस्तुका कल्पनारूप (Mental Construction) लगना तो स्वाभाविक ही होता है. इसी तरह भौतिक वस्तुके छोरसे देखनेपर प्रत्येक वस्तुका भौतिक तत्त्वोंसे घटित (Material Construction) लगना भी स्वाभाविक ही होता है.

सजीव वस्तुके व्यवहारमें अन्नग्रहण मलविसर्जन जिजीविषा आदि जो गुणधर्म दिखलायी देते हैं, उन गुणधर्मोंका प्रयोगशालामें किये गये प्रोटीन् या न्युक्लीइक् एसिड्के विविध संयोजनोमें विश्लेषण शक्य होनेके कारण चेतनाका तथ्य मिथ्या नहीं सिद्ध हो जाता. इसी तरह भौतिक द्रव्योंकी इन्द्रियजन्य स्फुरणा (Sensation) या उससे घटित मानसिक प्रत्ययों (Conception)में विश्लेषण शक्य होने मात्रसे भौतिक द्रव्यकी वास्तविकता नकारी नहीं जा सकती. चेतनाका भौतिक द्रव्यमें और भौतिक द्रव्यका चेतनाके मानसिक प्रत्ययोंमें विश्लेषण शक्य होनेसे या तो दोनोंका अनस्तित्व मान लेना चाहिये अथवा तो दोनोंका अस्तित्व है ऐसे मानना ही पड़ेगा. अभौतिक अचेतन अद्वैतवाद (Neutral Monism)के समर्थक बर्ट्रेन्ड् रसेल् एक दार्शनिक चुटकुले जैसा विधान करते हैं : ""What is mind? No matter! What is matter? Never mind.'' अर्थात्, चेतना क्या है? यह तो कुछ विचारणीय वस्तु नहीं है. वस्तु क्या है? वह कुछ विचारयोग्य नहीं.

यह तो निषेधात्मक दृष्टिकोण है परन्तु जो विधायक दृष्टिकोण विकसित करना हो तो ऐसे भी कहा जा सकता है : what is matter? It is mental. what is mind? It is material. अर्थात् चेतना भौतिक है और भौतिक वस्तु चेतनात्मक है. अतएव उपनिषदोंने कहा है : ''सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवा सर्वमया'' (नृसिंहो.उप.९). यदि कोई पूछना चाहे कि दोनों क्या हैं? तो उपनिषद् उसका जवाब देता है :

''द्वै वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च।
मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च त्यं च।।''

(यथापूर्व).

भूतलपर जनमनेवाला विचारक प्रथम प्रकट हुवे जड़-चेतनके इन दो रूपोंको न स्वीकारे तो वह भूतलपर खड़ा भी रह न पायेगा! ऐसी थी अपनी असली रसदृष्टि जिसकी विज्ञानको भी आज अत्यन्त अपेक्षा है.

'अणु'पदका अर्थ होता है अविभाज्य. अणुके लिये अंग्रेज़ीमें शब्द है Atom (a-toman). अतः 'एटम्'पदका भी अर्थ वही होता है. कोई वस्तु अविभाज्य है या विभाज्य इसे कैसे समझा जाये?

वास्तविकता यह है कि वस्तु विभाज्य भी होती है और अविभाज्य भी. अणुकी परिकल्पनामें आपने यहां मुख्य हेतु यही सोचा गया था कि जो एक राईके दानेके अनन्त विभाजन शक्य हों और उसी तरह एक पर्वतके भी अनन्त विभाजन शक्य हों तो दोनोंका परिमाणमें भी भेद नहीं होना चाहिये; परन्तु, भेद तो रहता ही है. अतः सिद्ध होता है कि कहीं न कहीं राईके एक दानेके अविभाज्य अणुओंकी तुलनामें पर्वतके अविभाज्य अणु संख्यामें अधिक होने चाहिये.

यह तर्क ग़लत नहीं लगता; पर, 'अविभाज्य' शब्दका सच्चा अर्थ समझ लेना आवश्यक है. उदाहरणतया समाजविज्ञानमें एक मानव व्यक्तिको (Individual) कहा जाता है. इसका भी अर्थ पुनः वही होता है कि जिसका विभाजन-डिविज़न सम्भव न हो. यह सर्वथा सत्य है, क्योंकि, यदि समाजशास्त्र एक मानवका विभाजन कर देगा तो समाज टिक ही नहीं पायेगा. अतः समाजशास्त्रके लिये एक मानव व्यक्ति अणु (Individual) होता है. फिरभी शरीरविज्ञान यदि एक मानवव्यक्तिको अविभाज्य एकक मान कर बैठा रहे तो शरीरकी बारेमें कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर पायेगा. ऐसे शरीरविज्ञानसे किसी जातका लाभ मानवको मिल नहीं पायेगा. अतः शरीरविज्ञान, समाजविज्ञानमें जिसे अविभाज्य माना गया ऐसे, व्यक्तिका विभाजन-विश्लेषण उसके अंग-प्रत्यंगोंमें, उनके नौ या दस नाड़ीसंस्थान रक्तसञ्चालन आदि क्रिया-कलापोंमें, शरीरके विविध प्रकारकी संरचना आदिमें करता होता है. अतः शरीरविज्ञानके अपने अलग अविभाज्य अणु या एकक होते हैं, जिनसे शरीरकी समष्टि घटित होती है. समाजविज्ञानकी व्यष्टि शरीरविज्ञानमें समष्टि बन जाती है. समाजविज्ञानके अविभाज्य अणु (molecule)का शरीरविज्ञानमें अनेक परमाणुओं (atoms)के रूपमें विभाजन हो सकता है.

फिरभी एतावता शरीरविज्ञान एक मानव या व्यक्ति की एक व्यष्टिरूप हैसियतको नकार नहीं सकता है. क्योंकि शरीरविज्ञानमें अविभाज्य एकके रूपमें मान्य करनेमें आये अंग-प्रत्यंगोंकी संरचनाका पुनः जैविकरसायनविज्ञानमें रासायनिक विश्लेषण या विभाजन तो शक्य है ही इसी तरह उस जैविकरासायनिक अविभाज्य अंगरूप तत्त्वोंका या अणुओंका भी पुनः भौतिकविज्ञानमें मान्य किये गये तत्त्वोंके परमाणुओंमें विभाजन शक्य है ही.

अतः जलके जिस एक अणुके विभाजन करनेपर जब जल जल न रह कर हाइड्रोजन् और ऑक्सीजन् वायुके रूपोंमे प्रकट हो जाता है तब जलके वैसे नन्हें अंशको जलका अविभाज्य अणु समझना चाहिये. उस अणुकी तुलनामें जो हाइड्रोजन्के दो अणु और ऑक्सीजन्का एक अणु हैं उन्हें परमाणु मानना पड़ेगा. जलके परमाणु जैसे हाइड्रोजन् और ऑक्सीजन् के अविभाज्य अणुओंका भी पुनः इलेक्ट्रॉन् न्युट्रॉन् और प्रोटॉन् के परमाणुओमें विभाजन शक्य है. अतः अविभाज्य और विभाज्य दोनों ही विभाज्य और अविभाज्य भी होते हैं!

अतः उपनिषदोंने अविभाज्य अणुसे अणियान् परमाणुकी बात हमें समझायी है. एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके अनेक नामरूपोंमें विभाजनकी शक्यताको भी उपनिषदोंने स्वीकारा है. उसमें नामरूपको केवल सत्य मानना और ब्रह्मको मिथ्या मानना अथवा तो ब्रह्मको सत्य मान कर नामरूपको मिथ्या मानना ये दोनों ही दृष्टिकोण एकांगी हैं. उनमें समग्र सत्यका निरूपण नदारद रहता है.

ब्रह्मका विश्लेषण नामरूपोंमें शक्य होनेसे या तो ब्रह्मको अथवा या फिर नामरूपको या दोमेंसे किसी एकको भी मिथ्या माननेकी आवश्यकता नहीं है. ब्रह्मके, क्योंकि, अद्वैतमें नामरूपके द्वैतको विकार या मायिक मानना तो निरा वाणी-विलास है. नामरूपके द्वैतका वास्तविक नामधेय तो ब्रह्माद्वैत ही होता है. जैसे मिट्टीके घड़ेको 'मिट्टीका विकार' कहना एक वाणीविलास है. वास्तविकतया मिट्टीके घड़ेका नामधेय 'मिट्टी' ही होता है ''वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्'' (छान्दो.उप.६।१।४).

बहुधा इस श्रुतिका खोटा अर्थ निकाला जाता है कि इस वचनमें ''ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'' सिद्धान्त प्रतिपादित हुवा है. नामरूपात्मक जगत्को मिथ्या माननेकी विचारसरणीको वस्तुतः यहां जितने सशक्त रूपमें नकारा गया है उतना सशक्त निरसन श्रुतिके अन्य वचनोमें सुलभ नहीं! क्योंकि अग्रिम **''वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं त्रीणि रूपाणि इत्येव सत्यम्''** (छान्दो.उप.६।४।१,२,३,४) वचनोंमें नामरूप द्वैतको 'विकार' कहना तो निरा वाणीविलास-वाचारम्भण ही कहा गया है. अतः नामरूपके द्वैतका सच्चा नाम तो ब्रह्माद्वैत ही है **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** (छान्दो.उप.३।१४।१) वचनके अनुसार पृथ्वी जल तेज से घटित जगतके पदार्थोंको पृथ्वी आदिके 'विकार' कहना भी निरा वाणीविलास ही है. क्योंकि उनका सच्चा नामधेय तो 'पृथ्वी' 'जल' और 'तेज' की रूपत्रयी है. अतः तैत्तिरीयोपनिषद् तो डिंडिमघोषके साथ कहता है कि दृश्यमान जो कुछ है वह सभी सत्य ही है **''यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते''** (तैत्ति.उप.२।६).

अतः विज्ञानकी एक एक शाखा यदि दूसरी शाखाके प्रमेयका विश्लेषण करने समर्थ हो एतावता उस प्रमेयको मिथ्या मानने लगना तो सुंद-उपसुंद राक्षसोंकी तरह दोनोंके अजेय होनेपर भी परस्पर कलहवश दोनोंके मर मिटनेका बचकानापन होगा! विश्लेषणद्वारा किसी पदार्थकी संरचना समझमें आ पाती है; पर, उस पदार्थके विशिष्ट स्वरूप या रस को केवल विश्लेषण द्वारा समझ पाना कठिन बात है.

एक प्रोषितभर्तृका नायिकाके नयनोंसे झरते अश्रुबिन्दुओंका कोई रसायनशास्त्री रासायनिक विश्लेषण कर भी दिखाये तो उसे हस्तगत क्या होगा? उस विश्लेषणमें अश्रुप्रवाहमें बहनेवाली विरहवेदनाकी अन्तर्धाराका एक बिन्दु भी हस्तगत नहीं हो पायेगा! अतः उन-उन वस्तुओंके विभाजन और अविभाजन के बारेमें जब तक वैचारिक सन्तुलन प्राप्त नहीं होता तब तक विज्ञानमें रसदृष्टि प्रकट हो न पायेगी.

आज हम देख सकते हैं कि आधुनिक समाजशास्त्रीय, अर्थशास्त्रीय, शरीरशास्त्रीय या मानसशास्त्रीय विश्लेषणोंके अनावश्यक महत्त्वकी भ्रान्तिके कारण विज्ञान अपनी कलात्मिका अनुभूति और अभिव्यक्ति में बाधक बनता जा

रहा है. अतः कलाके क्षेत्रमें रसदृष्टिकी जो पुनः प्रतिष्ठा करनी हो तो हमें कलामें रसदृष्टिकी आवश्यकताको स्वीकारना पड़ेगा.

::कलामें अपनी रसदृष्टि::

हृदयको सुहाते साँचोंमें सूक्ष्म या स्थूल को ढालनेवाले स्रष्टाको 'कलाकार' कहा जाता है.

बाह्य जगत्के प्रभाव एक कलाकारके संवेदनशील हृदयमें जैसे भलीभांति पड़ते हैं वैसे संवेदनाहीन सामान्य मानवके हृदयमें नहीं पड़ते हैं. अतः उन प्रभावोंके यथार्थ चित्रणको क्या 'कलासृजन' कहना ? क्या बाह्य जगत्की तनिक भी परवाह किये बिना स्वयंकी आन्तरिक प्रेरणाको अनुसरनेवाले स्रष्टाके सृजनको 'कलासृजन' कहा नहीं जा सकता ?

चित्र मूर्ति काव्य नृत्य गीत अभिनय या वाद्यवादन आदि कलाओंमें क्या अभिव्यक्तिकी ही महत्ता होती है ? क्या एक रसात्मक भावसौन्दर्यको अभिव्यक्त करनेको जो अनुभाव, जिनके कारण रसभावका सम्प्रेषण (Communication) शक्य बनता है उसकी महत्ता नहीं होती ? क्या कलाकी विविध विधाओंका उद्देश्य केवल कलात्मक सौन्दर्यको व्यक्त करने जितना सीमित ही होता है ? क्या सौन्दर्येतर उद्देश्य जैसेकि असुन्दर शुभको या असत्य शुभको अथवा तो असुन्दर सत्यको या अशुभ सत्यको कलाकी वाणीमें मुखरित किया नहीं जाना चाहिये ?

ऐसे अनेक प्रश्न आज हमें उन-उन कलाकृतिओंके सच्चे मूल्यांकनमें मतिभ्रम पैदा करते हैं.

कभी केवल-द्वैतवादी अथवा तो कभी केवल-अद्वैतवादी हठाग्रहके कारण बाह्य और आन्तर के बीच वस्तुतः जितना अन्तर होता है उससे कहीं अधिक अन्तर मान कर आत्मपीड़ा बढ़ाते रहते हैं. अतः अन्तस्में पड़ते बाह्य वस्तुके

कलात्मक प्रभाव और आन्तरिक प्रेरणाका अनुसरण कर प्रकट की गयी कलात्मिका अभिव्यक्तिकी जो द्विविध क्रिया हैं उनके बीच भी अनपेक्षित विरोधाभासकी भ्रान्ति हमें सताती रहती है.

जड़जगत् और चेतनजगत् के बीच एकको पराश्रित-प्रयोजनशाली (en soi) और दूजेको स्वाश्रित-प्रयोजनशाली (pour soi) मान कर मिथ्या भेद घड़ कर कलासृजनके प्रयोजनके बारेमें झगड़ पड़े ! कलासृजन सोद्देश्य होता है या निरुद्देश्य ? हमारा वेदान्त-चिंतन जड़ और जीवात्मा रूपी सृष्टिको सप्रयोजन या निष्प्रयोजन स्वीकारने समुद्यत नहीं. वेदान्तके अनुसार तो यह सृष्टि परमात्माकी लीला है.

सोद्देश्यता या निरुद्देश्यता ये दोनों ही अधूरे पक्ष हैं. लीला न तो सोद्देश्य कही जा सकती है और न सर्वथा निरुद्देश्य ही. उदाहरणतया मकानकी भींतपर तीन लकीरें खींच कर उनमें विकेटकी भावना कर कई किशोर गलीमें क्रिकेट् खेलने लग जाते हैं. उस क्रिकेट्द्वारा उन्हें हीरो बननेकी या नाम या धन कमानेकी या किसीको अपना कौशल दिखानेकी कोई कामना नहीं होती. ऐसी क्रिकेट्में टेस्ट् मेच्के जैसे नियम नहीं होते. टेस्ट् मेच्की मर्यादा या प्रयोजन भी नहीं होते. फिरभी निरुद्देश्य काम करनेवालेको मूर्ख मान लेनेकी युक्ति इन किशोरोंपर लागू नहीं की जा सकती. ऐसी क्रिकेट् खेली जाती है लीलाके रूपमें, जिसके बारेमें वह सोद्देश्य है या निरुद्देश्य, ऐसे सवाल एक बचकानी बात लगते हैं. खेलनेवाले किशोरोंकी क्रीड़ा बचकानी नहीं; परन्तु, उसमें सोद्देश्यता या निरुद्देश्यता के सवाल उठानेवाले दार्शनिकका चिन्तन वस्तुतः बचकाना चिन्तन लगता है. उसी तरह इस जगत् रूपी काव्यके कविने भी इस मनोहर काव्यको केवल लीलाके रूपमें ही प्रकट किया है. इस सृष्टिकाव्यके भीतर कविके चरित्रका अभिनय करनेवाला कोई पात्र इस काव्यकी रचना सोद्देश्य है या निरुद्देश्य ऐसी मीमांसा करने लगे तो इस सृष्टिकाव्यके कविको भी क्या ऐसे नहीं लगेगा कि **''अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख ! मा लिख !''**

इसी तरह कलामें तटस्थ अभिव्यक्तिकी प्रमुखता है या रसिकजन-संवेद्य अनुभावोंकी भी प्रमुखता है ? इस प्रश्नके बारेमें कुछ विचारणीय लगता है.

पहले बाह्य जगत्की सर्वांगपूर्ण अनुकृति प्रस्तुत करनेमें कलाके उत्कर्षकी भ्रान्तिमें भटकनेवालोंने अनुकृतिमें परिपूर्णता लानेके अपने पुरुषार्थमें एक दिन 'केमेरा' नामक ऐसा यन्त्र खोज निकाला कि चित्रकलाकी कलात्मिका महत्ता घट कर ऐतिहासिक महत्तामें सीमित रहनेके मोड़पर जा पहुंची! बहोत सारे चित्रोंका कलात्मक मूल्य पुरातत्त्वमूल्य (Antique value) में विकृत होने लग गया! ऐसे ही लोग तब दौड़ कर दूसरे छोरपर अमूर्त कलामें ही कलाके चरमोत्कर्षकी भ्रमणामें भटकते हो गये! ये दोनों अतिवादी दृष्टिकोण थे. पहले जो स्थूल-बाह्य जगत्की नीरस अनुकृतिको सर्वस्व मान बैठे थे वे इसके बाद अमूर्त आन्तर जगत्की नीरस अनुकृतिको सर्वस्व मान कर अमूर्तकलाके गुणगायक बन गये! तथ्य, किन्तु, यह है कि नवसृजन-विहीन अनुकृति बाह्यकी हो या आन्तरकी, स्थूल तथ्यकी हो या सूक्ष्मकी, मूर्तकी हो या अमूर्तकी जो अनुकृति होती है वह तो अनुकृति ही होती है, कलाकृति नहीं!

रसशास्त्रके प्रसिद्ध विद्वान् मम्मटने कलासृष्टिकी निर्मितिके बारेमें एक सुन्दर बात कही है :

''नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीम् अनन्यपरतन्त्राम्।।
नवरसरुचिरां निर्मितिम् आदधती भारती कवेः जयति।।''
(काव्यप्रका.१।१).

भावार्थ : कलास्रष्टा (कवि)की कलासृष्टि घड़ पानेकी कलाकी अधिष्ठात्री देवी भारतीका उत्कर्ष अद्भुत है! विधाताकी सृष्टिके नियमोंसे यह कलासृष्टि घड़ी नहीं जाती. विधाताकी कलासृष्टि कदाचित् सुख-दुःखात्मिका हो सकती है; पर, यह कलासृष्टि केवल आह्लादमयी ही होती है. विधाताकी सृष्टि काल कर्म स्वभाव प्रकृति के नियमोंके आधीन हो सकती है; परन्तु, कलासृष्टिमें ऐसी कोई पराधीनता नहीं होती. विधाताकी सृष्टिमें रति रोष हास शोक उत्साह भय घृणा विस्मय उदासीनता आदि मानसिक अवस्थाओंमें कोई सुहाती सुखप्रद होती है और कोई न सुहानेवाली अरुचिकर भी हो सकती है. जबकि कलासृष्टिमें रौद्र हास्य करुण वीर भयानक बीभत्स अद्भुत और शान्त रसोंके रूपमें वह सर्वदा रुचिर ही होती है. शृंगाररसमें प्रगट होनेवाली रतिकी तरह रौद्ररसमें प्रगट होते रोषमें भी रुचिरता बनी रहती है. हास्यरसमें रहनेवाले हासकी तरह करुणरसमें प्रगट होते शोकमें भी रुचिरता होती है. वीररसमें झलकते उत्साहकी तरह भयानक रसमें मनको झकझोर देनेवाली भीतिमें भी रुचिरता रहती है. अद्भुत रसमें प्रगट

होते विस्मयकी तरह बीभत्स रसमें प्रगट होती घृणामें भी रुचिरता निभ पाती है! कलासृष्टि ऐसी नवरसरुचिरा होती है!

इस कलासौन्दर्यकी विवेचनामें हम देख सकते हैं कि विधाताकी सृष्टिकी नीरस अनुकृतिमें कलासौन्दर्यका प्राकट्य स्वीकारा नहीं गया है. इसी तरह वस्तुतः काव्यात्मक होनेपर भी इस विधाताकी सृष्टिका केवल निर्वेदपूर्ण साक्षिभाव रख कर नैष्कर्म्यके अवलम्बनमें भी कलासौन्दर्य प्रकट होना माना नहीं गया है.

उस परम कविकी काव्योपम इस सृष्टिकी केवल रसानुभूति ही प्राप्त करनी हो तो धर्म एक समर्थ और पर्याप्त विद्याकौशल है. अतः बाह्य या आन्तर जगत् में अनुभूत होनेवाले सौन्दर्यको जो वह अमूर्त हो तो एक उत्तम केमेराकी तरह लेशमात्र भी बदले बिना उसे जसका तस प्रस्तुत कर देनेके दावेमें कलासृजन सिद्ध नहीं होता. एक नन्हा बालक यदि बड़े विद्वानोंकी तरह प्रत्येक स्वर और प्रत्येक व्यञ्जनकी ध्वनिओंका एकदम शुद्ध उच्चारण करने लगे तो उसमें हमें अहोभाव तो अवश्य जगता है; परन्तु, ऐसे बालकके प्रति वात्सल्यभाव प्रकट होना थोड़ा कठिन हो जाता है! अब यदि बालक सर्वथा गूंगा हो तो भी उसके साथ हमें बहुत आनन्द आ नहीं पाता. अपनी तुतलाती वाणीमें कुछ अटपटे उच्चारण करनेका प्रयास करनेवाला एक नन्हा बालक हमें अतिशय प्यारा लगता है, यह अन्यथा सम्भव नहीं.

प्रसिद्ध सितारवादक श्रीरविशंकरने शास्त्रीय संगीतका आनन्द लेनेकी बहुप्रचलित प्रणाली वाह! वाह!! और आहा! में रहे सूक्ष्म तारतम्य समझानेको एक अतीव सरस बात कही है. वे कहते हैं कि किसी कलाकारने वर्षोंसे रियाज़ कर-करके जो कठिन तानपलटे साध रखे हों उनकी सफल प्रस्तुतिको गायन या वादन में वाह! वाह!! द्वारा अभिनन्दित करना चाहिये. वाह! वाह!! यान्त्रिकी पुनरावृत्तिमें मिलनेवाली सफलताकी बधाई जैसी होती है. परन्तु कभी गायक या वादक के स्वयंके खयालमें न आनेवाले चमत्कारी मधुर स्वर अनजाने निकल जाते होते हैं तब उस स्वरनावीन्य या स्वरमाधुर्य की बधाई अहा! आहा!! की ध्वनिद्वारा देनी चाहिये. उसे वाह! वाह!! कहना उन स्वरोंमें रही मधुरता या नूतनता का अनादर है.

जैसे किसी सुन्दर षोडशीको 'दादी-ां' कह कर आदर देना उस षोडशीके यौवन और लावण्य का वास्तविकतया तो अनादर ही होता है! अतः यान्त्रिकी पुनरावृत्ति और नवसृजन के बीच रहे तारतम्यको पहचान पाना किसी भी कलाकृतिके वास्तविक मूल्यांकनमें अतीव उपकारक होता है. अल्पसंवेदनशील या अरसिकजनों द्वारा सफल पुनरावृत्तिकी वाह! वाह!! की बधाईके कोलाहलमें कोई अल्पसफल; परन्तु, सर्वथा नूतननिर्मिति अथवा तो पुनर्निर्मिति रसिकजनकी आहा!!

के अभावमें कहीं आहें न भरने लग जाये इसकी सावधानी रखनी आवश्यक होती है!

रसशास्त्रकारोंने नाट्यकलाके सन्दर्भमें किन्तु सभी कलाविधाओंके बारेमें सामान्यरीत्या स्वीकारी जा सके ऐसी रसपरिभाषा यों दी है :

''विभावानुभावसञ्चारिभावसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः...नानाभावोपहिताअपि स्थायिनो भावाः रसत्वम् आप्नुवन्ति...नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः...''

(भर.नाट्य.६।३१)

भावार्थ : विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावोंके इतरेतरसंयोगवश रस निष्पन्न होता है... नानाभावोपहित होनेपर स्थायी भाव ही रसतया प्रकट हो जाता है... नाना भावोंके वाचिक आङ्गिक सात्त्विक (और आहार्य भी) अभिनय द्वारा अभिव्यक्त होनेपर रसिकजनोंके लिये वे भाव आस्वाद्य बन जाते हैं.

इसमें विभावके दो भेद गिनाये गये हैं : १.आलम्बनविभाव और २.उद्दीपनविभाव. 'आलम्बनविभाव' का मतलब जिस व्यक्तिपर अवलम्बित हो कर अपने हृदयमें रति रोष हास शोक उत्साह भय विस्मय या घृणा आदिके

मनोभाव जगते हों उसे आलम्बनविभाव माना जाता है. ऐसे विविध भावोंको उद्दीप्त करनेवाली व्यक्तिकी चेष्टा या आसपासके वातावरण को 'उद्दीपनविभाव' कहा जाता है. जिनके द्वारा रति रोष आदि भाव उद्दीपित होते हैं. नाटकमें जिन कायिक वाचिक सात्त्विक (या आहार्य भी) सामग्रियोंके कारण रसिकजनोंको स्थायिभावात्मक रसका अनुभव होने लगे उन्हें 'अनुभाव' कहा जाता है. रति या रोष आदिके भावोंके स्थायी रहनेपर भी उनके बीच-बीच अस्थायिरूपेण जो दूसरे भावोंका अन्तःसञ्चरण होता है उन्हें 'सञ्चारिभाव' कहा जाता है. उदाहरणतया रशियाके महान् लेखक एन्टॉन् चेखोवकी करुणरससे परिपूरित बहोत सारी कहानियां हास्यरसके सञ्चारिभावकी भाषामें कही गयी हैं. अतएव करुणरसके अन्तर्भूत हो कर प्रकट होते हासमें करुणरस अधिक करुण बन छलक जाता है. अथवा बहुप्रचलित प्रिया-प्रियतमके प्रणयके उदाहरणमें रतिरूप स्थायी भावकी विद्यमानतामें ही कभी मान, कभी उदासीनता, कभी शंका, कभी लज्जा, कभी गर्व, या कभी विषाद आदि सञ्चारी भावोंका सञ्चरण रतिके भावको प्रगाढ बनाता है.

एतावता हम देख सकते हैं कि उपनिषद्में ब्रह्मके बारेमें जैसी विरुद्धधर्माश्रयता स्वीकारी गयी वैसी ही विरुद्धधर्माश्रयता रसशास्त्रीय रसके बारेमें भी कही-सोची जा सकती है.

क्योंकि विभाव प्रायः बाह्य और स्थूल होता है. सञ्चारी भाव कभी आन्तर तो कभी बाह्य भी होते हैं. स्थायी भाव सूक्ष्म और आन्तर ही होते हैं. अनुभाव स्थूल और/अथवा बाह्य होते हैं. कलात्मिका अभिव्यक्तिके हेतु हृदयको सुहाते सांचोंमें ढालनेकी चहलकदमीमें स्थूल और सूक्ष्म की महत्ता परस्पर सदृश ही होती है. अतएव स्थायी भाव सूक्ष्म अमूर्त होता है तो आलम्बनविभाव स्थूल मूर्त. स्थायी भाव स्थायी होता है पर सञ्चारी भाव अस्थायी होते हैं. अनुभाव (expressions/acting) व्यक्त-सत् होते हैं तो स्थायी भाव अव्यक्त-त्यत्. कलासर्जक मर्त्य होता है पर कलासौन्दर्य अमृत होता है! अतएव उसे ब्रह्मानन्दसहोदर माना जाता है. इससे सिद्ध होता है कि उपनिषदोंकी रसदृष्टि कलाक्षेत्रमें भी अपनायी जा सकती है :

''द्वे वा ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च, मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत् च सत् च त्यं च'' (यथापूर्व).

यह दृश्यकाव्य अर्थात् नाटकके सन्दर्भमें प्रस्तुत परिभाषा है. वैसे अन्य भी कलाविधाओंके उपलक्षणतया स्वीकार लेनेपर यथायथ अन्यान्य अनुभावोंको भी रसानुभावकतया मान्य किया जा सकता है. अतएव भरतमुनि कहते हैं ''यो अर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिव अग्निना'' (भर.नाट्य.७।७). यह हृदयसंवादी रसोद्भव केवल नाटकमें ही होता हो और कलाकी अन्य विधाओंमें नहीं, ऐसे सोचनेका कोई भी हेतु नहीं. उन-उन कलाओंके अनुभाव अलग-अलग हो सकते हैं : नाट्यकलामें रसका अनुभव पैदा करनेवाले अभिनेताके आंगिक वाचिक सात्त्विक और आहार्य अभिनय होते हैं. इन चतुर्विध अभिनयोंका स्थान संगीतमें स्वर राग लय और ताल ले लेते हैं. चित्रकलामें रंग और रेखाकृति ले लेती हैं. यों अन्य भी अनुभावक बन सकते हैं. अतएव मम्मट कहते हैं :

''[१]''रामएव अयम्', 'अयमेव रामः' इति, [२]''न रामो अयम्' इति औत्तरकालिके बाधे... [३]'रामः स्याद्वा नवा अयम्' इति, [४]''रामसदृशो अयम्' इति [१]सम्यग्- [२]मिथ्या- [३]संशय- [४]सादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन 'रामो अयम्' इति प्रतिपत्त्या...''

(काव्यप्रका.४।२८)

कलाओंकी अनेकविधाओंमें भाषा बदल जाती है परन्तु रसोद्बोधनका भाव नहीं बदलता है. जो कलाभाषा प्रयुक्त हो रही हो और उसके द्वारा जो बात कही जा रही हो उन दोनोंके बीच तादात्म्यभाव सहज या तात्कालिक अथवा कमसे कम आरोपित तो अवश्य ही वैसे वस्तुतया तो भावित तादात्म्यभाव ही रसानुभूतिका प्राणप्रद तथ्य होता है. सहज या तात्कालिक तादात्म्य तो विषयगत तादात्म्य होते हैं. मुखमात्रके दर्शनद्वारा ''यह वही व्यक्ति है'' सकल शरीरमें अभेदप्रत्यभिज्ञा सहजतादात्म्यपर अवलम्बित होती है. प्रमुखतया यह अंशांशिभाव उपादेयोपादानभाव धर्मधर्मिभाव आदि उदाहरणोंमें परखा जा सकता है. तात्कालिक तादात्म्य, जैसे, विद्यालय डाकघर आदि संस्थाओंमें व्यक्ति या गृह मोहल्ला

आदिका किसी निश्चित संख्यासे तादात्म्यीकरण सम्पन्न कर दिया जाता है. वैसे इसे आरोपित तादात्म्यसे पृथक्तया माननेका प्रमुख हेतु यही है कि निश्चित संस्था या समुदाय में निश्चित कालावधिमें वैयक्तिक आरोपतया मान्य न हो कर सामुदायिक प्रत्यभिज्ञाका जनक बनता देखा जाता है. इसके विपरीत आरोपित तादात्म्य, उदाहरणतया, बीजगणितके सिद्धान्तोंको जैसे किसी अनिश्चित संख्याके लिये अनियततया 'अ' 'ब' 'क' आदि अक्षरोंके साथ तादात्म्यारोप द्वारा समझा दिया जाता है. आरोपित और भावित तादात्म्योंकी परस्पर तुलनार्थ यह अवधेय है कि आरोपित तादात्म्य बोधोपयोगी तादात्म्य होता है जबकि भावित तादात्म्यारोप रसभावके उद्बोधनार्थ ही होनेसे रसात्मकता अधिगृहीत कर लेता है. इसे देवमूर्तिमें देवतादात्म्यभाव या स्त्री-पुरुषके बीच प्रिया-प्रियतमभाव या वरवधूभाव आदिके उदाहरणोंद्वारा समझा जा सकता है.

ऐसी भावना जगा पानेको सक्षम कलासर्जककी विचक्षणताके कारण क्रोध भय शोक या जुगुप्सा के मनोभाव भी कलासृष्टिमें रसात्मक बन जाते हैं.

वैसे कलासृजनमें सुन्दरता ही प्रकट होनी चाहिये असुन्दरता नहीं. सत्यको ही व्यक्त करना चाहिये असत्यको नहीं, शुभका ही निर्माण होना चाहिये अशुभका नहीं, ऐसा हठवाद रसदृष्टिके बारेमें हमारे अज्ञानका ही द्योतन है. हम जानते हैं कि जुगुप्साकी भी अनुभूति कलासृष्टिमें बीभत्सरसकी गौरवमयी पदवीपर बिराजती है. अशुभकी अभिव्यक्ति भी करुणरसतया बिरदायी गयी है. अतिशयोक्तिपूर्ण असत्य बातोंसे हँसनेकी हल्की मनोवृत्तिको हास्यरस होनेका गौरव प्रदान किया गया है. ऐसी स्थितिमें कलासृजनके अन्तर्गत ''सत्यं शिवं सुन्दरम्'' का बंधन पालना ही चाहिये ऐसा हठाग्रह रखना तो कलासर्जककी नवरसरुचिरा भारती देवीका अनादर है!

तैत्तिरीयोपनिषद्में अतएव एक बड़ी मजेदार सुन्दर बात कही गयी है :

''सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय! इति. स तपो अतप्यत. स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत. यदिदं किं च तत् सृष्ट्वा तदेव

अनुप्राविशत्. तद् अनुप्रविश्य. सत् च त्यत् च अभवत्. निरुक्तं च अनिरुक्तं च. विज्ञानं च अविज्ञानं च. सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्. यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते... असद् वा इदम् अग्रे आसीत्. ततो वै सद् अजायत. तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत. तस्मात् तत्सुकृतम् उच्यते इति. यद् वै तत् सुकृतं, रसो वै सः. रसं ह्येव लब्ध्वा आनन्दी भवति.''

(तैत्ति.उप.२।६-७).

भावार्थ : उसे अनेकधा अनेक रूपोंमें प्रकट होनेकी कामना हुयी. स्वयं उसने अनेकताका चिन्तन किया. और ऐसे चिन्तनद्वारा उसने यह जो कुछ है उसका सृजन किया. जो कुछ दिखलायी देता है उसे रच कर वह उसमें प्रविष्ट हो गया. इस सृष्टिमें प्रविष्ट हो कर उसने अनेक रूप धारण किये : व्यक्त-अव्यक्त, निर्वचनीय-अनिर्वचनीय, साधार-निराधार, विज्ञान-अविज्ञान, सत्य-अनृत आदि. अतः जो कुछ दिखलायी देता है उसे 'सत्य' कहा जाता है. कदाचित् दिखलायी देती वस्तु पहले न भी हों पर जो कुछ प्रकट हुवा वह तो सत् ही है. क्योंकि उसने अपने-आपको ही तो इस तरह प्रकट किया है. अतः यह सृष्टि उसकी सुकृति है. इस सृष्टिमें जो कुछ सरजा गया वह परमात्माकी सुकृति ही है. इसमें कारण यही है कि वह परमात्मा वस्तुतः रस है! इसी रसको पानेपर कोई आनन्दको पा सकता है.

रसरूपेण जो कुछ प्रकट होता है वह सब आनन्दात्मक ही होता है. रसरूपेण प्रकट शोक हो या मोह, क्रोध हो या भय हो, विस्मय हो या जुगुप्सा हो - सभी कुछ आह्लादक रसरूप ही होता है!

आन्तर या बाह्य, सूक्ष्म या स्थूल को अपने हृदयको सुहाते साँचेमें ढालनेको एक कलासर्जक स्वतन्त्र होता है. इस पुनस्सृजनमें सत्यको असत्य और असत्यको सत्य बनाया जा सकता है, शुभको अशुभ और अशुभको शुभ इसी तरह सुन्दरको असुन्दर और असुन्दरको सुन्दर बनानेको भी कलासर्जक स्वतन्त्र होता है. एक कलाकृतिमें सत्य-असत्य, शिव-अशिव या सुन्दर-असुन्दर की रसविवेचना हो उसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं लगती पर कलासर्जकके

स्वातक्त्र्यको नकारना निश्चय ही आपत्तिजनक होता है. अतएव अपने यहां प्राचीन ग्रन्थोंमें कलासृजनकी शर्तके रूपमें कहीं भी ''सत्यं शिवं सुन्दरम्'' वचन आदर्शतया उद्धृत हुवा पाया नहीं जाता. यह सहज सम्भव है कि किसी संस्कृतभाषाभिज्ञने अंग्रेज़ीके ""Truth, good and Beauty''का संस्कृतीकृत रूप प्रस्तावित करना चाहा हो.

मुंबईके समीप एलीफेंटा गुफाकी प्रसिद्ध त्रिमूर्तिके तीन मुखोंमें एक मुख शान्तरसको व्यक्त करते शिवका है, दूसरा शृंगाररसको व्यक्त करती पार्वतीका है. अतः शिव और सुन्दर तो मिले पर सत्य इन तीन मुखोंमें प्रकटरूपेण निरूपित नहीं. त्रिमूर्तिके अन्तर्गत तीसरा रूप सत्यका नहीं परन्तु रौद्ररसको व्यक्त करते भैरवका मुख है. अब सत्य प्रायः भयंकर ही होता है, ऐसा कह कर यदि उसे सत्यके मुखतया प्रतिपादित कोई करना चाहे तो यह भी स्वीकारना ही पड़ेगा कि प्रत्येक उदाहरणमें सत्य शुभ या सुन्दर नहीं होता.

अतएव किसी कविने महादेवकी नेत्रत्रयीमें तीन रसोंकी उद्भावना करते हुवे कहा है :

''एकं ध्याननिमीलनाद् मुकुलितप्रायं द्वितीयं पुनः
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनभरे सम्भोभोगभावालसम्।
अन्यद् दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर् भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः।।''

भावार्थ : भगवान् शम्भुद्वारा लगायी गयी समाधि साधारण योगिओंकी समाधि जैसी एकरसात्मिका या चेपेंपू भरी नहीं होती भिन्नरसात्मिका अर्थात् विविध रसभावोंसे भरपूर होती है! समाधि-अवस्थामें ही शम्भुका एक दक्षिण नेत्र शान्त रसात्मक ध्यानमें अर्धनिमीलित होता है. दूसरा वाम नेत्र वाम पार्श्वमें स्थित पार्वतीके मुखकमल और उर्वरित शृंगाररसोपम उरोजपर रसमत्त मधुपकी तरह मन्थर गतिसे मंडराता रहता है. तीसरा नेत्र दूरसे कामबाण छोड़नेवाले उस कामदेवपर क्रोधित हो कर प्रज्वलित क्रोधाग्नि जैसा उद्दीप्त दिखलायी देता है.

ऐसी निर्विकल्प समाधिके शिखरावस्थामें भी महादेव शृंगार शान्त और रौद्र रसोंकी लहरियोंमें लहराते रहते हैं.

महादेवको तो समाधिमें भी विविधताके प्रति विरोधी भाव नहीं रखते, तब समाधिविहीन कई-एक केवलाद्वैतवादी अनेकदा व्यवहारमें भी विविधताके प्रति सहिष्णुता निभा नहीं पाते ! अतः सत्यं शिवं और सुन्दरं के द्वैतकी या अद्वैतकी भर्त्सना करनेवाले केवल-अद्वैतवादी या केवल-द्वैतवादी चिन्तकोंकी हठ एक वैचारिक संकीर्णता ही लगती है. महादेवकी वास्तविकता तो त्रिनेत्र (अर्थात् एक ही देवताके त्रिमूर्ति) होनेकी है. शैव सम्प्रदाय अतएव महादेवको 'नटराज' कहता है. महादेव सभी रसोंके नाटन करनेमें समर्थ देव हैं, अतएव वे महादेव हैं. साथ ही साथ केवल त्रिनेत्र होनेके कारण या त्रिमूर्ति होने कारण महादेवको केवल रौद्र, शान्त और शृंगार रूपी रसत्रैतमें सीमित नहीं मान लेना चाहिये. इन तीन रसोंके साथ, क्योंकि, दूसरे छहों रस कार्यकारणभावात्मना शृंखलित माने जा सकते हैं.

यथा एक ओर कामदेवको भस्मसात् कर देनेके बावजूद दूसरी ओर पार्वतीको शृंगाररसात्मिका दृष्टिसे अनिमेष निहारते महादेवको देख कर हास्यरस प्रकट हो जाये तो उसे किसका अपराध कहना !

दूसरी ओर महादेवकी रौद्र रसात्मिका तीसरी दृष्टिसे भस्मसात् होनेवाले अपने पतिको देख कर रतिमें शोक और भय पैदा हो जायें तो महादेवके स्वरूपमें करुणरस और भयानकरस को स्थान मिला ही है यह भी स्वीकारना पड़ेगा.

शान्त रसकी समाधि लगा कर बैठे महादेवपर कामबाण चला कर उन्हें कामपीड़ावश अशान्त बनाना चाहते कामदेवको दृष्टिमात्रसे भस्म करनेवालेके शौर्यमें वीररस भी प्रकट होता ही है. रति तो कामको वर चुकी है, अतः रतिपति कामको खतम करनेके बाद अशक्य बन जानेवाली रतिक्रीड़ामें पार्वतीको प्रणयदान तो महादेव जैसे दानवीर ही कर सकते हैं ! दूसरे दृष्टिकोणसे निहारनेपर तो कामके वध करनेपर विधवा हो जानेवाली रतिको रोती रख कर स्वयं पार्वतीके साथ रतिरसका लाभ लेते महादेव और पार्वती के प्रणयमें किसी लौकिक कामुकको

जुगुप्साका भाव जग जाये तो उसे अस्वाभाविक कैसे माना जा सकता है ? अतः महादेवकी लीलाका कामभावके आधारपर मूल्यांकन करने जायें तो बीभत्स रस प्रकट हो पाता है. तत्त्वदृष्टिसे, किन्तु, देखनेपर निष्काम रमण विस्मयजनक ही होता है ! इससे कहीं अधिक विस्मयकारी विविध रसभावोंके परस्पर विरोधाभासी गुणधर्मोंको शिवरूपेण शान्तरसको व्यक्त करनेवाले महादेवकी अद्‌भुतरसात्मकतापर कहो किसे विस्मय न होगा !

फिरभी केवल अघोर **''शान्तं शिवम् अद्वैतम्''** माननेकी हठमें हम शिवके नटराज होनेकी वास्तविकताको नकारते होते हैं. वैसे हम स्वीकारें या न स्वीकारें, एतावता, रुद्र कहीं अपने घोर-घोरतर-द्वैतका ताण्डवनृत्य बंद थोड़े ही कर देंगे ! **''अघोरेभ्यो अथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वतः शर्वं सर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः''** (महाना.उप.१०।६). अतः वेद तो रुद्ररूप परमात्माके तीनों ही रूपों - १.अघोर २.घोर और ३.घोरसे भी घोरतर को वन्दनीय ही मानता है. अतः **''शान्तं शिवं अद्वैतम्''** की समाधिकी तरह **''अशान्तम् अशिवं द्वैतम्''** के ताण्डवको जो स्वीकार नहीं पाते वे शंकरके सच्चे किंकर होने लायक नहीं होते.

भागवतकार, इसी तरह, श्रीकृष्णको 'नटवर' कहते हैं. मथुरामें कंसके दरबारी मंचपर भगवानका अवतरण तो मानों विविध रसभावोंकी विलक्षण बाढ़ ही थी ! उस समय भगवान्‌ने नवरसके सिद्धान्तको अपूर्ण सिद्ध करनेको ही एककालावच्छेदेन अपने दसविध रूप प्रकट कर दिखाये. इस प्रसंगका निरूपण हमें अधोनिर्दिष्ट श्लोकमें भागवतकार देते हैं :

[१]मल्लानाम् अशनिः [२]नृणां नरवरः [३]स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
[४]गोपानां स्वजनो [५]असतां क्षितिभुजां शास्ता [६]स्वपित्रोः शिशुः।
[७]मृत्युर् भोजपतेः [८]विराड् अविदुषां [९]तत्त्वं परं योगिनां
[१०]वृष्णीनां परदेवता इति विदितो रंगं गतः साग्रजः ।।

(भाग.पुरा.१०।४०।१७)

भगवान् जब तक हमारे सम्मुख प्रकट नहीं होते तब तक उनकी उपेक्षा की जा सकती है. प्रकट होनेपर तो भगवान्के स्वरूपके साथ कोई उदासीन रह ही नहीं सकता.

भगवान्के प्रकट स्वरूपको जो स्नेहदृष्टिसे निहार पाना शक्य न हो तो द्वेषदृष्टिसे निहारना पड़ेगा. जो भगवान्के प्रकट स्वरूपके दर्शन पा कर प्रसन्न नहीं हो पाता उसे शोकव्याकुल होना पड़ेगा. जिसे भगवान्के दर्शन विस्मयजनक नहीं होते उसमें जुगुप्साका भाव जाग उठेगा. शूर वीर होनेके अहंकारसे भरे पुरुषोंमें वीर्यवान् भगवान्को देख कर युद्धका उत्साह उभरता न हो तो उसे भगवान्के सम्मुख सर्वथा भीरु बन जाना पड़ेगा. भगवान्के प्रकट रूपकी उपेक्षा कोई कर नहीं सकता. अतः योगिमुनिजनोंको अपने अन्तरमें ही परमात्माके शान्तरसपूर्ण स्वरूपपर एकाग्रताके साथ ध्यान लगा पानेकी सिद्धि भगवत्प्राकट्यकालमें अकिञ्चित्कर बन जाती है. अतः उन्हें हृदयसे बाहर पूर्वोक्तरीत्या आठ अशान्त रसोंके विभावतया किसी एक रसात्मिका वृत्तिसे अधीर बन कर भगवान्को निहारना पड़ेगा. अप्रकट भगवान्से विमुख रहना किसकेलिये अशक्य होता है ? इसी तरह प्रकट भगवान्के अभिमुख न हो पाना किसीके लिये नहीं शक्य ?

कंसके दरबारमें, अतएव, श्रीकृष्णसे विमुख रह पानेकी सारी सम्भावनायें खतम हो गयी थी. नटवरके अनेकविध रसनाटनमें कौनसे रसका प्रवाह बह नहीं रहा ! किसी भी तरहके स्थायी भावमें स्थिर हुवा मन भी उस रसप्रवाहके वेगमें बह ही जाता है ! फिरभी दूसरे प्रवाह अपने उद्गमकी दिशामें प्रवाहपतित वस्तुको बहा नहीं सकते; परन्तु, जिस रसप्रवाहका उद्गम कृष्ण हो वहां तो उलटी गंगा ही बहती है ! कंसके दरबारमें उपस्थित प्रत्येक दर्शकने अतः अपने-अपने मनोगत भावोंके अनुसार भगवान्के दर्शन पाये. उन-उन दर्शकोंकी चाहको अनुसरते यह नटवर श्रीकृष्ण अनेक रूप धारण करनेमें समर्थ है.

जगत्की अभिनेत्री या अभिनेता भी अनेक रूप धारण करते ही हैं. एतदर्थ उन्हें अपना आहार्य (make up) बदलना पड़ता है. परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण परन्तु सामान्य नट या अभिनेता नहीं वह तो नटवर हैं. उन्हें अद्भुत या प्रतिदर्शकदर्शनीय नित्यनूतन रूप धारण करनेको कभी ग्रीनरूममें

मेकअप बदलने जानेकी अपेक्षा नहीं रहती. वह तो हमारे हृदयको ही ग्रीनरूम बना कर वहां उपलब्ध हमारे भावोंका अपने मेकअपके रूपमें उपयोग ले लेने सर्वथा कुशल हैं. यदि अनेक दर्शक एक साथ अनेक भावोंके विवश नटवर श्रीकृष्णको निहारते हों तो उनके अनेकविध भावोंको अनुसरने यह नटवर भी एककालावच्छेदेन समर्थ हो पाता है ! कहो कि ऐसा और कौन हो सकता है ? श्रीकृष्ण सचमुचमें नटवर हैं !

[१]जो मल्ल थे वे भगवान्को मार डालनेके तामस भाववाले थे. उनके आधिभौतिक स्वभावके अनुरूप मल्लोंको मानों आकाशमेंसे रौद्र रूप धारण कर गिरती बिजली जैसे श्रीकृष्ण लगे.

[२]अनेक सामान्य जन भी वहां उपस्थित थे, उनके भाव मूलमें तामस होनेपर भी कुछ राजसताका रंग लिये हुवे थे, अतः उनके ऐसे आधिभौतिक स्वभावके अनुरूप उन्हें भगवान्के दर्शन विस्मयजनक असामान्य पुरुषके रूपमें हुवे. पुरुषोत्तमको पुरुष माना यह तामस स्वभाव था परन्तु राजस भावसे चित्तके चञ्चल होनेके कारण वह असामान्य नटवर लगे. वस्तुतः तो यह नटवर भगवान्का ही एक अद्भुत नाटन था !

[३]वहां आधिभौतिक स्वभाववाली अनेक स्त्रियाँ भी दर्शनोत्कण्ठा हृदयमें संजोये एकत्रित हुयीं थी. वे तामसोंमें कुछ श्रेष्ठ ऐसे तामस-सात्त्विक स्वभाववाली थी. अतः उनके सात्त्विक अंशके कारण उन्हें भगवान्में स्नेह जागा परन्तु तामस अंशके कारण वह स्नेह पुनः कामभावसे उपरक्त बन गया, निष्काम न रह पाया ! ऐसी स्त्रियोंको उनके स्वभावके अनुरूप भगवान् कामभावके अधिष्ठाता कामदेव जैसे दिखलायी दिये. शंकरके द्वारा भस्मसात् किये जानेपर कामदेव तो अनंग बन गये पर भगवान तो सर्वांगसुन्दर कामदेवसे भी अधिक कमनीय लगे, अतः कामभावात्मिका रतिरूप स्थायी भाववाला शृंगाररस प्रकट हो गया.

[४]जो भगवान्के साथ उनके सखा गोपबालक भी व्रजसे मथुरा आये थे. भगवन्मैत्रीवश उनके स्वभाव आध्यात्मिक बन गये थे. भगवान्के बारेमें उनका

सख्यभाव वैसे तो राजस था; पर, साथ-साथ कुछ तामसता भी वहां झलकती थी, अतः विचित्र वेशमें एक अद्‌भुत छटाके साथ अपने सखाको दरबारी रंगभूमिमें प्रवेश करते निरख कर गोपबालक भगवान्‌के बारेमें परस्पर उपहास करने लगे. अतः भगवान्‌की हास्यरसात्मकता उनके मित्रोंके बीच प्रकट हो गयी!

[५]जो राजपुरुष वहां एकत्रित हुवे थे उनके स्वभाव आध्यात्मिक थे; पर, उनके भगवान्‌के बारेमें भाव राजस-राजस थे, अतः अपने स्वभावके अनुरूप भगवान्‌को देख कर उनके भीतर वीरजनोचित युद्धोत्साह उभरा. यदि वे राजस-सात्त्विक भाववाले होते तो उनके भीतर भगवान्‌का पक्ष ले कर लड़-भिड़नेका उत्साह प्रकट हो जाता; पर, दुष्ट राजस-राजसभावके कारण उन्हें भगवान्‌के साथ युद्ध करनेका उत्साह बढ़ गया. उन्होंने जब थोड़े-बहोत सावधान हो कर भगवान्‌को निहारा तब दुष्टदमन करनेवाले एक सम्राट जैसे भगवान् दिखलायी दिये सो अन्तमें उनका उत्साह ठंडा पड़ गया. एतावता भगवान्‌की वीररसात्मकता सिद्ध हुई.

[६]भगवानके माता-पिता देवकी-वसुदेवके हृदयमें करुणरसका सागर छलकनेके कगार तक पहुंच गया. वेभी आध्यात्मिक स्वभाववाले थे; पर, भगवान्‌के बारेमें उनका भाव राजस-सात्त्विक था. सात्त्विकताके कारण उनमें वात्सल्यभाव उभरा और राजसताके कारण चित्तके चञ्चल बन जानेसे चिन्तामग्न हो जाते थे कि इस सुकोमल बालकके साथ कहीं कुछ अघटित न घट जाये! स्नेहमें अनिष्टकी आशंका प्रतिपद होनी सहज बात होती है. अतः अनिष्टकी आशंकासे भगवान्‌में करुण रसात्मकताकी झलक प्रकट हो गयी.

[७]कंसका स्वभाव मुक्ति पाने योग्य आधिदैविक था, तो भी तामस आसुरावेशके कारण भगवान्‌से डरते रहनेकी उसकी वृत्ति मूलमें सात्त्विकभावके कारण योगिजनोचित चित्तकी भगवान्‌में एकतानता ले पायी! अतः उसके स्वभावके अनुरूप उसे भगवान् साक्षात् काल जैसे लगे. अतः कंसद्वारा कल्पित भयानकता भगवत्स्वरूपमें एकदम साकार हो गयी.

[८]भगवान्‌में स्नेहभाव रखनेवाले अज्ञानी होनेपर भी भोले-भाले हृदयके नागरिक भी वहां उपस्थित थे. उनका भी स्वभाव आधिदैविक था. भगवान्‌के बारेमें उनका स्वभाव सात्त्विक-राजसके मिश्रणका था. अतः सात्त्विक अंशके कारण भगवान्‌में स्नेह होनेपर भी राजस अंशके कारण कुवलयापीडके वधके कारण जो भगवान्‌के वस्त्रोंपर छंटे हुवे रक्तके दाग-धब्बोंको देख कर उनका चित्त ग्लानिसे भर गया. उन्हें लगा कि जो अवसर मिले तो भगवान्‌को अपने घर पधरा कर भलीभांति निर्मल जलसे स्नान करा कर सुन्दर नये अच्छे वस्त्र धरा देने चाहिंये. ये रक्तरञ्जित वस्त्र ऐसे नयनाभिराम बालकके तनपर अशोभनीय लगते हैं? कैसी विलक्षण रीतिसे भगवान् नटवरने बीभत्स रसको प्रकट कर दिखाया?

[९]कुछ योगी जन भी वहां पहुंच गये थे. उनका भी स्वभाव आधिदैविक था. भगवान्‌में उनके भाव सात्त्विक-सात्त्विक कोटिके थे, अतः अपने स्वभावके अनुरूप ही भगवान्‌के दर्शन हुवे. एक विद्यार्थीकी तरह निरन्तर वे अपने ध्यान-धारणा द्वारा हृदयमें घड़ी भगवान्‌की मूर्तिपर यौगिक समाधिका अभ्यास कर चित्तको एकाग्र बनानेको निरन्तर उद्यमशील रहते थे. वह मूर्ति आज मानों हृदयसे बाहर ही न प्रकट हो गयी, ऐसा योगिओंको लगा. अतः योगसाधनाके यम-नियमोंके उपायोंसे उन्हें बाह्यजगत्‌की प्रत्येक वस्तुमें विरक्ति दृढ़ हो गयी थी. आज, परन्तु, इस मूर्तिमें शान्तरसके साक्षात्कारद्वारा पुनः बाह्यविषयमें अनुरक्ति स्पन्दित होने लगी!

[१०]राजपुरुषोंमें जो वृष्णिवंशीय थे, जिनके कुलमें भगवान् अवतीर्ण हुवे, वे तो गुणातीत स्वभावके थे, अर्थात्, वे तामस राजस या सात्त्विक न होनेके कारण इन गुणोंसे अतीत भाववाले थे, अतः उनके स्वभावके अनुरूप भगवान्‌के दर्शन करनेपर निर्गुणा भक्तिका उनके हृदयमें आविर्भाव हुवा. उन्हें भगवान् केवल परदेवता ही लगे!

[११]भक्तिको, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य प्रस्तुत प्रतिपादनमें, [१२]वां रस मानते हैं. वह लौकिक या प्राकृत गुणोंसे प्रकट होनेवाला रस नहीं. आठ रस - शृंगारसे बीभत्स तकके - लौकिक और प्रकृति में रहे सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके

विविध मिश्रणवश प्रकट होनेवाले रस होते हैं. सभी प्राकृत भावोंको अद्वय वस्तुके ज्ञानयोगसे दग्ध कर देनेपर वे भाव अभावमें पर्यवसित हो जाते हैं. फलतः शान्तरसका आविर्भाव होता है. भक्ति न तो सर्व लौकिक रसोंका अभाव यानि कि शान्तरस होती है और न लौकिक रसोंके अन्तर्गत कोई एक रस होती है. जिस हृदयमें प्राकृत गुणोंका उपद्रव शान्त हो जाता है, फिरभी आत्मा और परमात्मा के बीच रही निरुपाधिक प्रीति निभ पाती हो वही हृदय भक्तिरसकी यमुनाके तटपर विचरण कर पाता है. भक्ति गुणातीत हृदयमें अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होती है. वह स्नेह, आसक्ति, व्यसन और सर्वात्मभावकी क्रमिक अवस्थाओंमें दृढ़से दृढ़तम होती मानी गयी है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके मतमें भक्तिरस सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान्के स्वाभाविक अद्वैतस्वरूपमें सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्प के कारण प्रकट होनेवाले लीलात्मक द्वैतका रसात्मक अनुसन्धान है. इसे केवल ब्रह्मके तत्त्वज्ञान या ब्रह्माद्वैतकी अपरोक्षानुभूति के रूपमें स्वीकारा नहीं जाता है. उस ब्रह्माद्वैतानुभूतिको तो शान्तरसरूप ब्रह्मज्ञानकी पराकाष्ठा मानी जाती है. अद्वैतरूप सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अपने आत्मैक्यमें अरतिजन्य आत्मद्वैधापादनरूपा लीलाके प्रति भी संवेदनशीलताके सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहात्मक प्रकर्षको भक्तितया मान्य किया गया है :

''भक्तिस्वरूपम् आह 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो भक्तिः इति प्रोक्तः तया मुक्तिः नच अन्यथा' स्नेहो भक्तिः, 'रतिः देवादिविषयिणी भावः इति अभिधीयते'. रतिः=स्नेहो देवत्वं=माहात्म्यं तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति. तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन तन्निरूपणं माहात्म्यं च उच्यते... अज्ञानादिदोषाभावाय माहात्म्यञ्च सुदृढस्नेहाय आत्मत्वञ्च आह.''

(त.दी.नि.प्र.४२).

प्रियतम और प्रेमी के द्वैतपर अवलम्बित होनेवाली लौकिक रति स्वमूलक अभेदानुसन्धानरूप होती है. अतएव अवतारवादावलीकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं :

''भक्त्यर्थमेव भागवतसंहिताप्रणयनकथानात् तत्र प्रतिपाद्यमानस्य भागवतरसस्य भक्तिरूपतायाएव सिद्धेरिति. अतएव शृंगाराद् भिन्नतया अनुभूयतएव रसिकैः. यत्तु शृंगारस्यैव द्वावपि अवस्थाभेदौ संयोगो विप्रलम्भः च इति सर्वैः उच्यते तत्तु अविचारितरमणीयमेव, मात्रादिष्वपि अनिषिद्धसंयोगसुखविप्रलम्भयोः उपलब्धेः. वस्तुतस्तु रतिरपि स्नेहविशेषएव. एवं सति शृंगारस्यैव रसत्वं न केवलं स्नेहस्य इत्यत्र विनिगमकाभावात् तदुभयोः पार्थक्येन रसत्वं स्वीकार्यम्. तथाच नायिकायां नायकस्य तस्मिन् च तस्याः या रतिः सा शृंगारः. मात्रादीनां पुत्रादौ तेषां च तेषु या रतिः स केवल स्नेहरसः इति सिद्धम्. भगवद्विषयिकायाः निरुपाधिकायाः द्विविधायाअपि रतेः अलौकिकत्वेन मुख्यरसरूपत्वं, 'रसो वै सः' इति श्रुतेः भगवतो रसरूपत्वात्. लौकिकस्यतु उपाधिजन्यत्वाद् आभासत्वं ज्ञेयम्. तेन भक्तिरसस्य तेभ्यो अतिरिक्तत्वं निष्प्रत्यूहम्.''

(भक्तिरसत्ववाद).

भावार्थ : भक्त्यर्थ ही भागवतसंहिताका प्रणयन मान्य होनेके कारण तथा भागवतरसके भक्तिरूप होनेके कारण भक्ति शृंगारादिसे भिन्न रस है. संयोग और वियोग भी केवल शृंगाररसके ही दो दल हों ऐसा नहीं. वस्तुतः तो ये स्नेहके दो दल हैं. मूलमें तो शृंगारात्मिका रति भी स्नेहका ही एक अन्यतम रूप होती है. अर्थात् नायक-नायिकाके बीच स्नेह शृंगारात्मिका रति कहलाती है परन्तु माता-पिता आदिकी पुत्रादिमें रति अशृंगारात्मिका रति होती है. भगवद्विषयिणी शृंगारात्मिका वात्सल्यात्मिका या आत्मपरमात्मभावात्मिका रति निरुपाधिक होनेके कारण अलौकिक होती है. अर्थात् परमात्माके बारेमें प्राणिमात्रका स्नेह या रति अज्ञानवश सोपाधिक होनेपर भी तत्त्वतः निरुपाधिक ही होती है. लौकिक विषय या व्यक्तिओं के बारेमें स्नेह अज्ञानवश निरुपाधिक लगता होनेपर भी तत्त्वतः त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके गुणोंकी उपाधिसे प्रयुक्त ही होता है. भगवद्रति भगवदनुग्रहजन्य होनेपर भगवान्की आत्मरतिका ही लीलाविस्तार होनेसे प्राकृतगुणोंकी उपाधिसे रहित मानी गयी है.

भूमिके ऊर्वरा होनेपर भी यदि बीजावापन न किया जाये तो धान्य या फल उग नहीं पाते. इसी तरह, गुणातीत हृदयमें भी जो भगवान् स्वयंके अनुग्रहके बीजका वापन न करें तो भक्तिरस भगवत्स्नेहके

रूपमें अंकुरित नहीं हो पाता है. केवल शान्तरसयुक्त हृदय प्रायः बिन बोये खेत जैसा होता है. अतः जहां शान्तरसकी सीमा समाप्त होती है वहांसे भक्तिरसकी सीमाका प्रारम्भ होता है!

एतदर्थ हमें विविध रसोंका प्राथमिक वर्गीकरण समझ लेना उपकारक होगा :

शान्त रस < - > अशान्त रस

इसमें जो अशान्तरसका वर्ग है उसके पुनः उपभेदरूप रस पूर्वोक्त आठ यों हो जाते हैं : [१]शृंगार [२]हास्य [३]बीभत्स [४]भयानक [५]रौद्र [६]करुण [७]अद्‌भुत और [८]वीर. इन विविध रसोंके स्थायी भावोंपर दृष्टि करनेपर हम समझ सकते हैं कि आठोंके आठ रस एकदूजेसे विपरीत स्वभाववाले हैं :

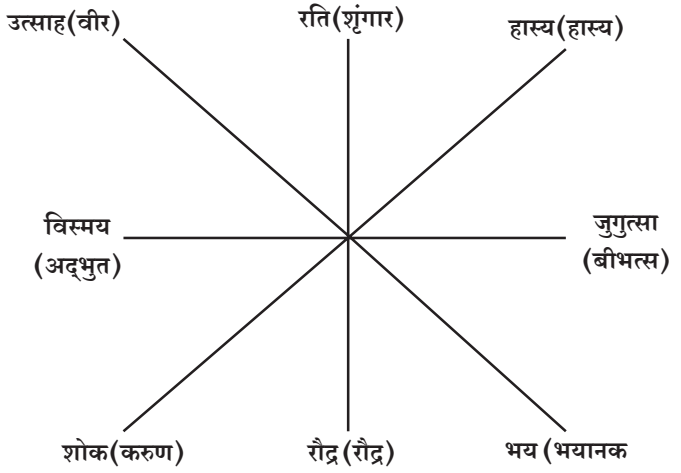

आठों रसोंके स्थायी भाव परस्पर विपरीत होनेपर भी अशान्तरूप होना उन सभीका एक सामान्य स्वभाव है. शृंगार वीर हास्य और अद्‌भुत रसोंसे पैदा होती अशान्ति सुखरूपा अशान्ति होती हैं, अतः वे सुखप्रद हो जाती हैं. करुण रौद्र भयानक और बीभत्स रसोंके कारण होती अशान्ति दुःखप्रद होती हैं. शान्तरसमें इन आठों रसोंमें के कोई भी अशान्त भावोंसे पैदा होती विषमता मनमें रह नहीं जाती. करुणरसका दुःखद शोक, अद्‌भुत और हास्य रसोंके सुखद विस्मय या हास, भयानकरसमें अनुभूत होता चिन्ताजनक भय, रौद्ररसमें प्रकट होते रोष या द्वेष, शृंगाररसमें अनुभूत होता अनुराग और वीररसमें शत्रुको पराजित करनेकी दुर्दम कामनासे उद्‌भूत उत्साह, शान्तरसमें रह नहीं पाते. अतः 'शान्तरस' शब्द विधानात्मक होनेपर भी लोकदृष्ट्या उसका स्थायी भाव निर्वेद नकारात्मक होता है. इसी तरह आठ रसोंको 'अशान्त' कहनेपर 'अशान्त' शब्द नकारात्मक होनेपर भी उसका भाव विधानात्मक होता है.

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ नच काचिद् इच्छा।
रसः सः शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः ।।
(साहि.दर्प.३।२३०)

अर्थात् साधारण लौकिक दृष्टिसे देखनेपर शान्तरसके रसिक और अरसिक के बीच अन्तर समझना जरा कठिन काम है. आत्मज्ञानीको मिलते निजानन्द, अक्षरब्रह्म-ज्ञानीको मिलते ब्रह्मानन्दसे अपरिचित मनुष्य वास्तविकतया कभी शान्त रसका पूर्ण आनन्द ले नहीं पाता. शान्त रसमें रहनेवाली मस्ती अतिशय सूक्ष्म, अमूर्त, अमृत, स्थायी और अव्यक्त होती है. जबकि दूसरे आठ रसोंमें रहनेवाली मस्ती स्थूल, मूर्त, मर्त्य, यायी और व्यक्त होती है : ''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च, मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च त्यं च'' (यथापूर्व). अतः शान्तरसमें अद्वैतभावकी प्रमुखता होती है, जबकि अन्य आठ रसोंमें द्वैतभावकी प्रमुखता होती है. सागरके तलमें रहती स्थिरता जैसी स्थिरता शान्तरसमें रहती है. जबकि सागरके ऊपरी सतहपर उठती चञ्चल लहेरोंकी जैसी अस्थिरता दूसरे आठ रसोंमें रहती है. आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान (Solar Astronomy) में सूर्यके जैसी केन्द्रीय स्थिति शान्तरसकी मान्य करनी

चाहिये. शान्तरस सभी रसोंके केन्द्रमें अवस्थित है. जैसे सूर्यपिण्डके चतुर्दिक् नवग्रह परिभ्रमण करते हैं. ऐसे ही अवशिष्ट सभी रस शान्तरसके चतुर्दिक् भ्रमण करते हैं. अतएव किसी भी रसके चरमोत्कर्ष (Climax) में एक अव्यक्त शान्ति मिलती है. सौरमंडलकी शान्त रसको केन्द्रमें रख कर परिक्रमा करनेवाले नव रसोंको अधश्चित्रित आकृति द्वारा समझा जा सकता है :

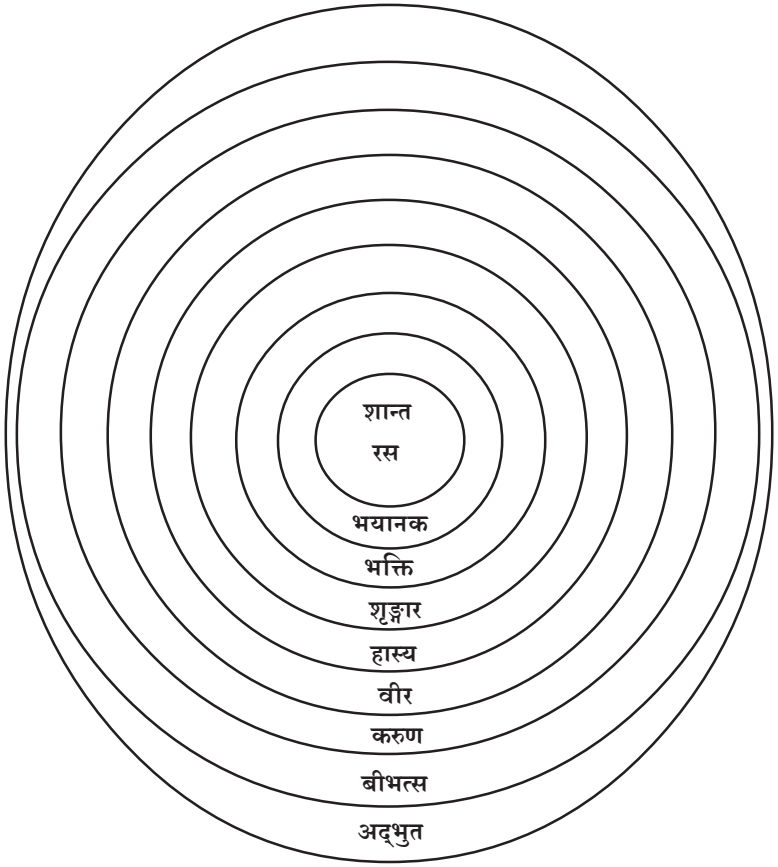

नव ग्रहोंके अन्तर्गत अपने सौर परिवारको जान पाये और उनका आनन्द ले पाये ऐसी जीवसृष्टि केवल पृथ्वीपर सम्भव है. कारण उसका यही है कि जो ग्रह पृथ्वीकी तुलनामें सूर्यके अधिक निकट हैं, जैसेकि बुध और शुक्र उनकी सतहपर तापमान इतना अधिक होता है कि जीवनकी सम्भावना जल-बल जाती है. इसी तरह जो ग्रह पृथ्वीकी तुलनामें सूर्यसे अधिक दूर होते हैं उन ग्रहोंपर पृथ्वी जैसे जीवनकी सम्भावना ठिठुर जाती है.

इस चित्रोदाहरणके आधारपर समझा जा सकता है कि भक्तिरसद्वारा रस परिवारके प्रत्येक भावोंकी ऊर्मिओंको जाना और उनका आनन्द लिया जा सकता है. भक्तिभावोचित ऐच्छिक द्वैतसे ओर आगे बढ़नेकी लालसामें अशान्तरसोंकी परिधिकी ओर बाहर मनके फिंकते जानेपर तो अन्तमें उन अशान्तरसोंसे भी आनन्द ले पानेकी मनःशान्ति नष्ट हो कर द्वैतके किसी ठिठुरा देनेवाले छोरपर मनको जड़ीभूत बना देती हैं. इसी तरह पृथ्वीसदृश भक्तिरसमें मिलते शान्तरससे अधिक शान्तिकी कामनाके वश केन्द्रोन्मुखी मनोवृत्तिके प्रबल होनेपर भी रसानुभूति अशक्य बन जाती है. क्योंकि जीवनोचित द्वैतकी सम्भावनाओंको अपने तापसे गरमाते-गरमाते अन्तमें पूर्ण केन्द्रोन्मुखिता सूर्यके तापमानमें तद्‌भावापन्न बना कर तद्‌विलीन बना देती हैं. अन्तमें शान्तरसात्मक हो कर शान्तरसका भी आनन्द उठा पानेमें जीवको असमर्थ बना देती हैं. अतः सिद्ध होता है कि भक्तिरसके द्वारा सभी रसभावोंका आनन्द लिया जा सकता है. फिरभी भक्तिरस शान्त और अशान्त, नौके नौं रसोंसे विलक्षण और एकमात्र जीवंत रस है. अतः उसकी तुलना सौरमण्डलमें की पृथ्वी साथ की जा सकती है. वह न अति-उष्ण है और न अति-शीतल है, या न अतिद्वैतघटित है या न अति-अद्वैतघटित.

भागवतकारके मतके अनुसार ऐसा भक्तिरस वृष्णिवंशके राजपुरुषोंको श्रीकृष्णके अवतारकालमें अनुभूत हुवा था **''वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गंगतः साग्रजः''** (यथापूर्व). परमदेवको रुष्ट किया जा सकता है, परमदेवसे डरा जा सकता है, परमदेवको भजा जा सकता है, परमदेवके कान्तरूपमें प्रकट होनेपर कामात्मिका रति निभायी जा सकती है, परमदेवका सख्यभाववश उपहास किया जा सकता है, परमदेवको युद्धमें हराया भी जा सकता है कि वह रणछोड़राय बन कर भाग खड़ा हो, उसके साथ लड़े बिना पराजित भी हुवा जा सकता है,

परमदेवको अपनेद्वारा लालित-पालित असहाय बालक भी माना जा सकता है, इस तरह कि निरन्तर उसकी रक्षा कैसे कर पायें ऐसे मनोभावसे सदा उद्वेगवशात् करुणाशील बना जा सकता है, यदि वह परमदेव अपना मलीन अशुचिरूप प्रकट करे तो निश्छल प्रेमभावविवश हो कर स्वच्छ-शुद्ध बनाया जा सकता है, परमदेवके ऐसे परम माहात्म्यको जान या देख कर विस्मित हुवा जा सकता है, परमदेवको अपनी आत्मामें निवास करनेवाला परमात्मा मान कर अन्तरात्मामें शान्त-एकान्त भाववश ध्यान लगाया जा सकता है! ऐसी होती है परमदेवकी परमता. अतः सभी रसभावोंका आलम्बन बनने वह समर्थ है; परन्तु, यदि उस परमदेवको भूल कर कोई निज आत्मामें ही शान्त रसभावका आनन्द लेना चाहे तो अनात्माके साथ प्रकट होते शृंगार आदि रसोंकी बातोंसे हृदय समझ ही न पाये ऐसे लौकिक रसोंमें तल्लीन बना मन शान्तरसका आनन्द भी ले नहीं पाता. अतएव शान्तरसके रसिक लोकमें अरसिक जैसे लगते हैं. और लौकिक रसोंके रसिक ज्ञानियोंको पामर लागते होते हैं. इसमें कौन सच्चा और कौन खोटा?

उपनिषद्के **''एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति''** (बृह.उप.४।३२) सूत्रका भाष्य सा करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं :

१.''अतः स्नेहः पदार्थान्तरम्. स भगवन्निष्ठएव भगवद्विषयको ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धात् तन्नैकट्याद् अन्यत्रापि भासते. उष्णस्पर्शवद् यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशयः. शारीरेऽपि आत्मनि तेन सह अतिनैकट्यात् परमस्नेहवत्त्वम्. एवम् अध्यासेन अन्यत्र.''

२.''प्रीतिस्तु भगवद्धर्मो भगवान् सर्वेभ्यो जीवेभ्यः तं खण्डशं दत्तवान् सुखार्थम्. अतः यत्रैव प्रीणाति तत्सुखं भवति. ततः स्वसुखमेव स्वस्य भवति इति उक्तं भवति.''

(१.सुबो.१।१९।१६ २.सुबो.२।२।७).

व्याख्या : १.सारे रसभावोंका मूल हमारी स्नेहमयी वृत्तियोंमें निहित है. और वह स्नेह तो आनन्दरूप परमात्मामें ही आत्मरतिरूप धर्मतया अवस्थित होता है. ऐश्वर्य वीर्य श्री ज्ञान आदि भगवद्गुणोंकी तरह ही वह भगवान्के आत्मानन्दके लीलाविस्तारके रूपमें हमारे भीतर भी भगवत्सम्बन्धवशात् भगवान्के निकट हम कितने पहुंच पाते हैं उस अनुपातमें हमारे भीतर भी प्रकट होता है. जितना कोई अग्निके निकट जाये उतना ताप अधिकाधिक बढ़ता जाता है. ऐसे ही भगवान्के साथ हमारी उत्तरोत्तर अधिक निकटताके कारण हमारे भीतर भी स्नेहभाव वृद्धिंगत होता जाता है. अर्थात् केवल निजदेहमें स्नेहभावसे अधिक निजपरिवारमें, उससे अधिक निजकुल या निजबन्धुसखाओंमें, उससे अधिक निजनगर या निजदेश के मनुष्योंमें, उससे अधिक सर्वमनुजोंके प्रति, उससे अधिक सर्वप्राणिओंके प्रति, उससे अधिक सर्वजड़चेतनात्मक जगत्के प्रति, उससे अधिक समग्र ब्रह्माण्डके प्रति, उससे भी अधिक ब्रह्मके प्रति प्रकट होते स्नेहमें भगवान्के साथ अत्यधिक निकटता ही हेतुभूत होती है. निजात्मामें स्नेह जैसे निरुपाधिक होता है वह पुनः परब्रह्मके प्रति स्नेहके प्रकट होनेपर निरुपाधिक हो जाता है. मध्यवर्ती सभी विषयोंके प्रति स्नेहभाव आत्मसम्बन्धोपाधिक अध्यासहेतुक होता है निरुपाधिक नहीं. २.''प्रीति तो एक ऐसा भगवद्धर्म है जिसका दान भगवान्ने सभी जीवोंको खण्डशः किया है. इस प्रीतिरूप भगवद्धर्मके कारण ही जीवात्माको सुखानुभूति सम्भव है. क्योंकि जो जीव जिसे चाहने लगता है उसे वहांसे सुख मिलने लग जाता है. वस्तुतः भगवत्सुख ही अन्यान्य क्षुद्र परिमाणोंमें सभीको मिल रहा है.

मूल मुद्देकी बात यहां यही है कि उपनिषद् **''ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा''** (तैत्ति.उप.२।५) जो प्रतिपादन कर रहा है उसे सुन कर शान्तरसके रसिक ब्रह्मको परिपूर्णताके साथ पहचाने बिना ही अमूर्त अमृत कूटस्थ अव्यक्त नामरूपकर्म-विहीन अद्वैत निर्गुण निर्विशेष अक्षरब्रह्मरूप पूंछको पकड़ कर बैठ जाते हैं. अन्धहस्तिन्यायेन ब्रह्मके दूसरे पहलुओंको नकारना चाहते हैं! ब्रह्महस्तिकी विशालताको भलीभांति देख पानेको वे समर्थ नहीं हो पाते. वे जिसे ब्रह्म मानते हैं वह मिथ्या नहीं है परन्तु साथ ही साथ वे ब्रह्मके जिस पहलुको मिथ्या मानते हैं वह वस्तुतः मिथ्यादृष्टि है.

इस जगत्के नाटकके अभिनेताने जगत्में आठ प्रमुख रस व्यक्त किये एतावता **''अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः''** (भर.नाट्य.६।१५) की अनुश्रुति चल पड़ी. क्योंकि परमनटने इस सृष्टिके मूर्त मर्त्य अस्थिर व्यक्त रंगमंचपर आठ रसोंके प्रति मनुष्यके हृदयमें यत्किञ्चित् प्रबल स्नेहभाव प्रकट किया है, अतः ब्रह्मको न जाननेवाले लौकिक पामर रसिक अन्धहस्तिन्यायेन अमूर्त अमृत कूटस्थ अव्यक्त पहलुओंमें अनुभूत होते रसको रसके रूपमें स्वीकारनें विरत हो जाते हैं! ब्रह्मास्ति या हस्ति के किसी भी पहलुका अस्वीकार करना एक नहीं तो दूसरी रीतिसे वैचारिक अन्धताका ही लक्षण है. अतएव उपनिषद् कहता है : **''आनन्दरूप ब्रह्मके शीर्षस्थानीय प्रियता होती है, मोद दक्षिण पक्षोपम होता है, प्रमोद उत्तर पक्षोपम होता है, सुख-दुःख ज्ञानाज्ञान व्यक्ताव्यक्त सत्यानृत विरुद्धधर्मोंका आश्रय आनन्द आत्मस्थानीय होता है, ब्रह्मता=देशकालस्वरूपगत अपरिच्छिन्नता पुच्छोपम प्रतिष्ठा होती है'**(तैत्ति.उप.२।५।). इस वाक्यसे उपनिषद् नटवर भगवान्की समग्रताको ही बिरदाना चाहता है : **''सर्वकर्माः सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वम् इदम्''** (छान्दो.उप.३।१४।४) भक्तिरसमें माहात्म्य ज्ञानके अंशमें शान्त, रौद्र, भयानक आदि रसोंका संनिवेश शक्य है. इसी तरह सुदृढ सर्वतोधिक स्नेहके अंशमें शृंगार, हास्य, करुण, वीर, बीभत्स और अद्भुत रसोंका संनिवेश शक्य है.

भक्तिके सिवा दूसरी धार्मिक मनोवृत्तिओंमें स्थूलमें सूक्ष्मका आनन्द लिया जा सकता है; पर, भक्ति तो सूक्ष्मके आनन्द ले पानेकी केवल धर्मसाधना नहीं प्रत्युत आधिदैविक कला भी है. सूक्ष्म अव्यक्त अमूर्त सर्वव्यापी अनादि अनन्त परमात्माको अपने भावोंकी छेनीसे स्थूल व्यक्त मूर्त रूपेण देशकालमें घड़नेकी एक कला ही भक्ति है.

ब्रह्मको उपनिषद् रसरूपेण निरूपित करता है, अतः भक्ति एक ऐसी कला है कि जिसके द्वारा ब्रह्म रसरूपेण आविर्भूत होता है.

भक्तिरसकी मनोवृत्तिसे ब्रह्मका आनन्द ले पाना, उसे जान पाना, उस ब्राह्मिक विस्तारमें विचरण कर पाना, उस अव्यक्तको पहचान कर मनपसंद सांचेमें ढाल पाना भी शक्य बन जाता है : **''जैसी-जैसी बुद्धिसे उसकी**

विभावना करते हैं वैसा-वैसा स्वरूप वह प्रकट करता है'' (भाग.पुरा.३।९।११).

भक्तिरसके वैशिष्ट्यका सर्वातिशायी पक्ष तो यह है कि इस रसके आलम्बनविभाव और स्थायी भाव दोनों समेकित रूपमें कार्यान्वित होते हैं! भक्तीतर रसोंमें स्थायिभाव और आलम्बनविभाव के बीच इतरेतरप्रयुक्त स्वरूपवत्ता एकतः जन्य-जनकभावात्मना अपरतः भावुक-भाव्यात्मना प्रकट होती है. अतः इसे हम भावित तादात्म्यतया अवधारित कर सकते हैं. भक्तिरसके स्थायिभाव, माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ-सर्वतोधिकस्नेहरूप; और आलम्बनविभाव भगवत्स्वरूप के बीच तत्त्वदृष्ट्या सहज तादात्म्य होता है. भगवद्दृष्ट्या भावित तादात्म्य होता है परन्तु भक्तदृष्ट्या भगवदनुग्रहोपाधिक तादात्म्य भी होता है.

अतः 'भगवान्' 'भक्ति' और 'भक्त' तीनों पदोंके मूलमें विद्यमान 'भज'धातुवाच्य सेवनक्रियाके महत्त्वको समझना आवश्यक है. यास्क मुनि कहते हैं **''भगो भजतेः''** (निरु.निघ.१।३।७). अर्थात् जो सेवनीय हो भजनीय हो ऐसे धन आदिको 'भग' कहा जाता है. तन्त्रों और पुराणों में ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य आदि सेवनीय गुणोंके कारण आराध्य परमात्माके देवरूपको 'भगवान्' कहा गया है. इसी तरह इस सेवनार्थक 'भज'धातुके साथ 'क्तिन्'प्रत्यय जोड़नेपर 'भक्ति'पद बनता है. यों जो भक्तिमान् हो उसे 'भक्त' कहा जाता है.

यहां यह नितान्त अवधेय है कि 'सच्चिदानन्द' पदका अर्थ है : जो सत् हो, जिसे अपने होनेका भान हो और उस भानमें आनन्दरूपता हो अर्थात् देश-काल-स्वरूपकृत परिच्छिन्नताजन्य शोक-ोहसे जो अतीत हो. परमतत्त्वको सच्चिदानन्द और ब्रह्म माननेका अभिप्राय यही है. अतएव अपने इस रूपमें उस परमतत्त्वको स्वेतरनिरपेक्ष समझा जाता है. उसी परमतत्त्वको अनन्त शारीरात्माओंके भी आत्मरूप होनेके कारण 'परमात्मा' भी कहा जाता है. अतः शारीरात्मसापेक्ष परमात्मा होता है. यह परमत्व शारीरात्माओंकी परमात्मस्वीकृतिकी अपेक्षा नहीं रखता. अतः यह तथाविध तत्त्वापेक्षा है नकि तथाविध बोधापेक्षा. अतः अनीश्वरवादी या मनुष्येतर प्राणियोंकी भी शारीरात्माके अपेक्षया वह परमात्मा हो

सकता है. उस परमतत्त्वको, परन्तु, भगवान् होनेको किसी भक्तके द्वारा भगवद्गुणोंके सेवनीय होनेके बोध और स्वीकृति की अपेक्षा रहती है.

अतएव भक्ति ही आलम्बनविभावको भगवान् बनाती है और स्थायिभाववान् पुरुषको भक्त !

वह भक्ति पुनः पूर्वोक्त आनन्दके शिरस्स्थानीय प्रियत्वकी विभावना होनेके कारण प्रेमभावरूपा होती है. अतः निष्कर्षतया परब्रह्म परमात्मा भगवान्के आराध्य देवके लोकमें साक्षात् प्रकट होनेपर आलम्बनविभावजन्य स्थायिभावरूपा होती है. अन्यथा परब्रह्म परमात्मा भगवान् आराध्य देवरूपके माहात्म्यज्ञानोत्तर प्रकट होनेवाले प्रेमभाववश अपने आराध्यकी पूर्वनिरूपित अनेकविध भौतिकाभौतिक मूर्तिके प्रति भक्तिरसभाववश आलम्बनविभावात्मना भावित या उसे प्राप्त कर प्रकट होनेवाले स्थायिभावरूपा होती है.

माहात्म्यज्ञानकी दृष्टिसे प्राणवायुकी तरह भगवान् तो सर्वत्र विद्यमान होते ही हैं. अतएव श्वासोच्छ्वासकी तरह स्वयञ्चालित प्रक्रियावत् जीवनाधार होते हैं. अतः तद्वत् होनेपर भी ससंकल्प प्राणायामव्यापारकी तरह भक्त्यात्मक संकल्पपूर्वक विद्यमानके प्रति सभान होना भक्तिरस है. अतएव सहज और भावित उभयविध तादात्म्य यहां अनुसन्धेय बन जाता है.

अतएव भागवतकार दूसरे रसोंकी सर्वमान्य सूचिमें भक्तिरसको साग्रह जोड़ना चाहते हैं. इसमें निगूढ़ हेतु हमारे जीवनको भक्तिरससे भरपूर बनानेका है !

कृष्णको परम देवता रूपमें पहचानो और देखो कि वह नटवर तुम्हारे हृदयके रंगमंचपर और नयनोमें भी कैसे-कैसे अद्भुत और नित्यनूतन रूपोंको धारण कर विविध रसभावोंकी वृष्टि करने समर्थ है !

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं :

''यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किम् अपरं ब्रूहि लौकिकैः वैदिकैरपि।।''

(चतुश्लोकी : ३).

यदि उस नटवर गोकुलधीशको तुम अपने हृदयमें धारण करने समर्थ हो तो कहो कि क्या अलौकिक शान्तरस भक्तिरसकी तुलनामें अधिक आह्लादक है ? क्या लौकिक आठ रस भक्तिरसकी तुलनामें अधिक आह्लादक हो सकते हैं कभी ?

पूर्णका पूर्ण आनन्द लेनेका रस भक्तिरस है. उसमें अन्य सारे रसोंका पूर्णताके साथ आनन्द लिया जा सकता है ! यह थी अपनी असल रसदृष्टि !

प्रसीदतां मयि श्रीमद्व्रजेशचरणाश्रये।
स्वामिनौ वल्लभाधीशविट्ठलेशाभिधौ सदा।।